प्रकाशकः—
सेठ श्री फूसराजजी बच्छावत
वीकानेर

प्रथमावृत्ति १००० | ईस्वी सन् १९४९ | मूल्य १।)

मुद्रकः—
श्री जालमसिंह के प्रबन्ध से
गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस,
ब्यावर में मुद्रित.

निवेदन

पाठकगण !

लीजिये, यह २१ वीं किरण आपके कर-कमलों में है। यह किरण जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज के मोरबी (काठियावाड़) के कतिपय विशिष्ट व्याख्यानों के आधार पर सम्पादित की गई है। यद्यपि श्रीमहावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी, राजकोट की तरफ से प्रकाशित जवाहरव्याख्यानसंग्रह में मोरबी के व्याख्यान गुजराती भाषा में प्रकट हुए हैं; मगर इस किरण में जिन व्याख्यानों का संग्रह किया गया है, वे अतिरिक्त हैं और अभी तक कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं। यह व्याख्यान अत्यन्त बोधप्रद तथा सार्वजनिक हैं। इनका प्रकाशन सर्वसाधारण जनता के लिए उपयोगी होगा, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत किरण बीकानेरनिवासी धर्मनिष्ठ, समाजसेवी, सुधारप्रेमी श्रीमान् सेठ फूसराजजी बच्छावत के द्रव्य से प्रकट हो रही है। पाठकों को स्मरण होगा कि आपकी ही ओर से १६ वीं किरण अंजना भी प्रकाशित हुई है। पुस्तक की आय ज्ञानप्रचार में ही लगाने की आपकी भावना सराहनीय है। बच्छावतजी के संबंध में हम १६ वीं किरण में लिख चुके हैं, अतः यहाँ फिर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। आपने इस प्रकाशन-प्रयास में सहायक बनकर हमारे उत्साह में जो वृद्धि की है, उसके लिए किन शब्दों में आपका आभार माना जाय ? सच तो यह है कि ऐसे सहृदय सहायकों के बल पर ही हम थोड़े समय में बिना किसी प्रकार के फंड के, पूज्यश्री का इतना विशाल साहित्य पाठकों के समक्ष रख सके हैं। आशा है इससे पूज्यश्री की स्वर्गस्थ आत्मा को

अवश्य संतोष प्राप्त होगा और पूज्यश्री के सच्चे भक्तों को आनन्द, तथा प्रमोद होगा।

इसके पश्चात् 'संवत्सरी' नामक एक किरण और प्रकाशित हो रही है, जिसमें पूज्यश्री के समस्त उपलब्ध व्याख्यानों का निचोड़ दिया गया है। उसके एक-एक पृष्ठ पर वर्ष भर की एक-एक तिथि दी गई है, ताकि पाठक प्रतिदिन, उसी तिथि को, एक पृष्ठ पर गहरा मनन-चिन्तन कर सकें।

'जामनगर के व्याख्यान' नामक किरण भी छप चुकी है और निकट भविष्य में ही वह भी पाठकों के हाथों में पहुँचने वाली है।

आशा है, पाठक पूज्यश्री के विचारों का पूरा-पूरा लाभ उठाकर अपने जीवन को सफल बनाएंगे।

श्रीहितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम का आभार तो प्रत्येक किरण के साथ संलग्न ही है। इति शुभम्।

निवेदकः—

चम्पालाल बांठिया

मंत्रीः—

श्री जवाहर साहित्य समिति, भीनासर

भीनासर (बीकानेर)
रक्षाबन्धन
२००६



मोरबी के व्याख्यान

:: विषयानुक्रम ::



दो बहिनें—सम्पत्ति और विपत्ति

श्रीजिन मोहनगारो छे,
जीवन-प्राण हमारो छे।

यह भगवान् अरिष्टनेमि की प्रार्थना है। भगवान् अरिष्टनेमि का चरित्र भारतीय साहित्य में अत्यन्त उच्चकोटि का है। ऐसा चरित्र दूसरा मेरे देखने में नहीं आया। यद्यपि भीष्म का चरित्र भी बहुत उज्ज्वल और आदर्श है लेकिन भगवान् अरिष्टनेमि के चरित के साथ उसकी समानता नहीं हो सकती। श्री अरिष्टनेमि का चरित्र कुछ असाधारण बोधदायक है। भीष्म ने पिता की सेवा के लिए ही ब्रह्मचर्य स्वीकार किया था लेकिन भगवान् अरिष्टनेमि ने पशु-पक्षियों की दया से प्रेरित होकर ब्रह्मचर्य अंगीकार किया था और यहाँ तक कि संसार का भी त्याग कर दिया था। भगवान् अरिष्टनेमि के चरित्र को भलीभाँति देखा जाय और उस पर मनन किया जाय तो विदित होगा कि उन्होंने यादव कुल में जन्म लेकर कैसा असाधारण कार्य किया था

जिस समय भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ, उस समय यादवों में महान् हिंसा फैली हुई थी। भगवान् अरिष्ट-नेमि ने उस हिंसा को मिटाने के लिए ब्रह्मचर्य अंगीकार किया और संसार का त्याग किया।

महापुरुष मुँह से कुछ कहने की अपेक्षा अपने चरित्र के द्वारा ही जगत् के सामने आदर्श उपस्थित करना उचित समझते हैं। जो बात वे दुनिया से मनवाना चाहते हैं उसे पहले अपने जीवन में उतारते हैं। उनके आदर्श जीवन से जगत् के जीव बोध पाकर कुमार्ग का त्याग करते हैं और नाना प्रकार की बुराइयों से बचकर शान्ति प्राप्त करते हैं।

एक आदर्श ऐसा होता है जो दूसरों पर आज़माया जाता है और दूसरा ऐसा होता है जिसका प्रयोग पहले अपने ऊपर ही किया जाता है। जो महापुरुष आदर्श का प्रयोग अपने ही ऊपर करते हैं, उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये आदर्श का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। भगवान् अरिष्टनेमि ने देखा कि आजकल हिंसा बहुत फैल रही है। बात-बात में पशुओं को तलवार के घाट उतार दिया जाता है। पशुओं में भी हमारी ही तरह चेतना है। उन्हें भी हमारी ही तरह सुख-दुःख की अनुभूति होती है। पशु भी हमारी ही तरह दुःख से बचना चाहते हैं। मगर ऐसा समझा जाता है, मानो पशुओं में [illegible] ही नहीं है और उनके प्राणों की कुछ कीमत ही नहीं है।

अतएव हर्ष या शोक का कोई भी अवसर आया और पशुओं के प्राणों पर आ बनती है। इस प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि ने उस समय की परिस्थिति पर गौर किया।

कल मैंने कहा ही था कि जब विषयसुख की अभिलाषा नहीं होती तभी अनुकम्पा होती है। इसके विपरीत विषयसुख की तीव्र अभिलाषा होने पर मनुष्य सोचने लगता है कि चाहे कोई मरे या जीये, किसी का कुछ भी क्यों न हो, हमें विषयसुख प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार की मानसिक स्थिति में अनुकम्पा नहीं होती। उस समय यादवों की स्थिति ऐसी ही थी। वे लोग विषयलोलुप हो रहे थे और इस कारण पशु-पक्षियों की घोर हिंसा कर डालते थे। इस हिंसा को रोकने के लिए भगवान् ने विवाह का प्रपंच रचे जाने में बाधा नहीं पहुँचाई।

कई लोग जैन-धर्म का ठीक-ठीक स्वरूप नहीं समझते। अतएव वह सोचने लगते हैं कि सब जीव एकान्तः समान हैं। यह समझकर वे वनस्पति और पानी के छोटे जीवों की रक्षा करने में तो तत्पर हो जाते हैं मगर बड़े जीवों की उपेक्षा कर देते हैं। वे केवल छोटे जीवों की ही रक्षा करने में धर्म की इतिश्री कर डालते हैं। ऐसे लोगों को भगवान् अरिष्टनेमि के चरित्र से शिक्षा लेनी चाहिए।

भगवान् अरिष्टनेमि आरंभ से ही तीन ज्ञानों के धारक थे। वे इस बात को भलीभाँति जानते थे कि [illegible]

अमुक में कम जीव हैं या ज्यादा जीव हैं। फिर भी उन्होंने विवाह रचाना स्वीकार कर लिया था। और जब विवाह संबंधी स्नान आदि की विधि की गई तो उन्होंने कुछ नहीं कहा। इसी प्रकार जब बारात सजाई गई और हाथी के हौदे पर बैठ कर उग्रसेन के यहाँ तोरणद्वार पर जाने लगे तब भी कुछ नहीं बोले। लेकिन वहाँ पहुँच कर उन्होंने पशु-पक्षियों की रक्षा की। अब विचारना चाहिए कि क्या भगवान् को स्नान करने के पानी में जीव होने का ज्ञान नहीं था? बारात के चलने से मार्ग के जीवों के मरने की बात उन्हें मालूम नहीं थी? फिर क्या कारण है कि उन्होंने जल और मार्ग के जीवों की उपेक्षा करके तोरणद्वार के समीप के पशु-पक्षियों की रक्षा की? तोरणद्वार के पास बाड़े में जो पशु-पक्षी बंद किये गये थे, उनकी अपेक्षा स्नान के जल के जीवों की संख्या ज्यादा थी और मार्ग के जीवों की भी संख्या ज्यादा थी। फिर किस कारण से भगवान् ने उन बहुसंख्यक जीवों की अपेक्षा इन पशु-पक्षियों की हिंसा को प्रधानता दी और इनकी रक्षा की? भगवान् ने तो छोटे जीवों की अपेक्षा बड़े जीवों को महत्त्व दिया, लेकिन आजकल के कुछ लोग बड़े जीवों की उपेक्षा करके छोटे जीवों की रक्षा करने में ही अपने कर्त्तव्य की समाप्ति समझ बैठे हैं। छोटे कामों में ही कर्त्तव्य की समाप्ति मान ली जायगी तो फिर बड़े काम करने की शक्ति कहाँ से आएगी? बड़े कामों की उपेक्षा करके छोटे कामों में ही लगे

रहना बुद्धिमानी नहीं है। अगर बड़े काम की उपेक्षा करके छोटा काम करना ही उचित होता तो भगवान् ने स्नान करके जल के जीवों की हिंसा की उपेक्षा करके बाड़े के जीवों की हिंसा क्यों बचाई? भगवान् को एक बड़ा आदर्श कार्य करना था। अतएव उन्होंने वह हिंसा तो होने दी और उग्रसेन के यहाँ तोरणद्वार पर आकर सारथी से कहा—सारथी, इन सुख के अभिलाषी जीवों को क्यों रोक रक्खा गया है? और ये कुहराम क्यों मचा रहे हैं?

भगवान् सभी कुछ जानते थे लेकिन जगत् के जीवों के सामने सारी बात स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने सारथी से यह प्रश्न किया। सारथी स्पष्ट वक्ता था। उसने भगवान् से साफ कह दिया—

अह सारही तओ भणइ एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झ विवाहकज्जम्मि भोयावेउं बहुजणं॥

सारथी भगवान् से कहता है—यह पशु-पक्षी किसी और प्रयोजन से नहीं लाये गये हैं किन्तु आपके विवाह के लिए ही लाये गये हैं। आपके विवाह में इनकी दावत दी जायगी!

भगवान् जगत् की रक्षा करने के लिए जन्मे थे और वे उन जीवों की हिंसा भी नहीं कर रहे थे। अतएव वे सोच सकते थे कि जो करेगा सो भोगेगा। इन प्राणियों के मारे जाने का अपराध मेरे सिर नहीं हो सकता। मगर परमदयालु

भगवान् ने ऐसा नहीं सोचा। उन्होंने विचार किया कि मेरा विवाह न हो तो यह प्राणी क्यों मारे जाएँ!

इस प्रकार विचार कर भगवान् ने सारथी से कहा-यह हिंसा मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं है। इसलिए तू जाकर इन पशु-पक्षियों को बंधन-मुक्त कर दे।

सारथी भगवान् की आज्ञा पाते ही चल दिया और वाड़े में बंद पशुओं को मुक्त कर के लौट आया। भगवान् ने संतुष्ट होकर अपने शरीर के समस्त आभूषण, मुकुट को छोड़कर सारथी को दे दिये।

सारथी ने कौनसा बड़ा काम किया था कि भगमान् ने मुकुट के सिवाय और सब आभूषण उतार कर उसे दे दिये? भगवान् के शरीर पर जो आभूषण होंगे वे साधारण तो नहीं रहे होंगे! वे महामहिम यादवकुल के राजकुमार थे और फिर दूल्हा बने हुए थे। निस्संदेह उनके शरीर पर उत्तम से उत्तम आभूषण रहे होंगे। लेकिन आभूषणों का मूल्य आंकने और काम का हिसाब लगाने की फुर्सत किसे थी? भगवान् सोचते थे कि सारथी ने मेरी आज्ञा मानकर प्राणियों को मुक्त कर दिया है। इसने दूसरे की अपेक्षा नहीं रक्खी। इसमें साहस है। साहस के कारण ही इसने ऐसा किया है। नहीं तो जिन जानवरों को राजा उग्रसेन ने बंद करवा रक्खा था, उन्हें छोड़ देने की हिम्मत कौन कर सकता था? इस प्रकार

अपनी आज्ञा के पालन से संतुष्ट होकर भगवान् ने अपने समस्त आभूषण सारथी को दे दिये। केवल एक मुकुट रहने दिया क्योंकि मुकुट राजचिह्न माना जाता है और वह सारथी के पास रहने न दिया जाता। इस सिलसिले में शास्त्र में कहा है:—

सो कुंडलाणं जुयलं सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि सारहिस्स पणामए॥

भगवान् ने मुकुट के सिवाय दोनों कुंडल, कटिसूत्र तथा और सब आभूषण सारथी को दे दिये। भगवान् ने तनिक भी विचार नहीं किया कि मैं किस काम के बदले क्या दे रहा हूँ! इस घटना से भगवान् की उदारता और निस्पृहता का पता लगता है। भगवान् की यह कैसी निरीहता है! धर्म की रक्षा उदारता और निस्पृहता से ही होती है। जो लोग पानी पीकर पेशाब तोलते हैं वे धर्म की रक्षा कैसे कर सकते हैं?

ठाणांगसूत्र में कहा है कि धर्म की जिन पाँच कारणों से रक्षा होती है, उनमें एक राजा भी है। राजा की सहायता के बिना अहिंसाधर्म का पालन नहीं किया जा सकता। संसार में क्षुद्र मनुष्य भरे पड़े हैं। राजा न हो तो वे धर्मपालन में बहुत बाधा डालें और सर्वसाधारण के जीवन में कठिनाई पैदा कर दें। गीता में कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

अर्थात्—श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं। महापुरुष माने जाने वाले लोग जो बात स्वीकार कर लेते हैं, दूसरे लोग भी सरलता से स्वयं ही वह बात अंगीकार कर लेते हैं। इस प्रकार जो काम हमारे उपदेश से नहीं होता वह महापुरुष के आचरण से अनायास ही हो जाता है। सब के लिए कहा गया है:—

महाजनो येन गतः स पन्थाः।

यानी सब तरह के वादविवाद को दूर करके उसी मार्ग पर चलो जिस पर महापुरुष चले हैं। इस प्रकार महापुरुष माने जाने वालों पर ज्यादा जिम्मेवरी है। उन्हें सदा इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि मैं किस मार्ग पर चल रहा हूँ और मुझे किस मार्ग पर चलना चाहिए? राजा की गणना भी महापुरुषों में है। इस कारण राजा को भी ध्यान रखना चाहिए कि मैं कैसे काम कर रहा हूँ और मुझे कैसे काम करने चाहिए?

भगवान् अरिष्टनेमि राजपुरुष थे। वे महाराज समुद्रविजय के पुत्र थे माता-पिता ने उनसे विवाह करने का बहुत आग्रह किया, मगर वे यही कहते रहे कि समय आने पर सब कुछ हो जायगा। भगवान् के लिए यह अवसर आया और विवाह रचाकर उन्होंने पशु-पक्षियों की रक्षा की और सब आभूषण सारथी को सौंप दिये। इस प्रकार की उदारता राजपुरुष में

ही होती है और इसलिए यह कहा जाता है कि राजा की सहायता के बिना धर्म पंगु होता है।

भगवान् ने उन जीवों को बन्धनमुक्त करवा दिया था। अतएव उसके बाद विवाह करने में किसी प्रकार का हर्ज़ नहीं माना जा सकता था। लेकिन भगवान् की दृष्टि में तो विवाह करने में हर्ज़ था। भगवान् ने विचार किया कि ब्रह्मचर्य के बिना काम नहीं चल सकता। लोगों के सामने अहिंसा के साथ ब्रह्मचर्य का भी आदर्श मुझे रखना है। इसके लिए मुझे स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। ऐसा किये बिना लोगों पर प्रभाव नहीं पड़ सकता।

सुना है, किसी बाई का लड़का गुड़-शक्कर ज्यादा खाया करता था। उस बाई ने लड़के को बहुत रोका, मगर लड़का नहीं माना। गुड़-शक्कर ज्यादा खाने के कारण लड़के के शरीर में बीमारी फूट निकली। माता ने सोचा-लड़का मेरा कहना तो मानता नहीं है; शिक्षक से कहना चाहिए। यह सोचकर वह लड़के के शिक्षक के पास गई। उसने कहा-आप लड़कों को अक्षरज्ञान ही सिखलाते हैं या चारित्र तथा स्वास्थ्यरक्षा आदि की बातें भी बतलाते हैं? शिक्षक के पूछने पर वह बाई फिर बोली-मेरा लड़का गुड़-शक्कर बहुत खाता है, इस कारण इसके शरीर में बीमारी फूट निकली है। बीमारी होने पर भी यह गुड़-शक्कर खाना नहीं छोड़ता। बाई की बात

सुनकर शिक्षक ने कहा—अच्छा, आज तो अवसर नहीं है कल इसे लेकर आ जाना।

दूसरे दिन वह बाई फिर अपने लड़के के साथ शिक्षक के पास गई। गुड़ और शक्कर अधिक खाने से क्या-क्या हानियाँ होती हैं, यह सब बातें शिक्षक ने उस लड़के को भली-भाँति समझाई। लड़के ने प्रतिज्ञा की—मैं माता की आज्ञा लिये बिना कभी गुड़ नहीं खाऊँगा।

वह बाई शिक्षक से कहने लगी—आपने जो काम आज किया है, वह कल ही कर सकते थे। फिर कल अवसर न होने की बात किस मतलब से कही थी? शिक्षक ने उत्तर दिया—मैंने स्वयं गुड़ खाया था। जब मेरे ही पेट में गुड़ था तो इस बालक को उसके त्यागने का उपदेश कैसे दे सकता था? जब मैंने स्वयं गुड़ खाना छोड़ दिया तभी इसे त्यागने का उपदेश दिया है। स्वयं आचरण न करके दिये गये उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता।

इस कथा के आधार पर आप अपने संबंध में विचार करें। आपसे प्रश्न किया जाय कि आपको कैसी पत्नी चाहिए? तो आप सीता जैसी पत्नी की इच्छा करेंगे। किन्तु कभी राम जैसे बनने की भी इच्छा करते हैं? आप राम जैसे नहीं बनना चाहते तो पत्नी सीता जैसी कैसे चाहते हो?

तात्पर्य यह है कि जो दूसरे को तो उपदेश देता है लेकिन

स्वयं उस उपदेश के विरुद्ध चलता है, उसके उपदेश का जनता पर प्रभाव नहीं पड़ता।

शास्त्र में भगवान् से प्रश्न किया गया है कि आपके धर्म का उपदेश कौन दे सकता है? भगवान् ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया है—

आयगुत्ते सया दंते छिन्नसोए अणासवे।
तं धम्मं सुद्धमाक्खंति पडिपुण्णमणेलिसं॥

अर्थात्—मेरे धर्म का उपदेश वही दे सकता है जो आत्मा को गुप्त रखता हो। जिसकी आत्मा मेरे धर्म में तन्मय हो गई हो। जो दूसरों को किसी काम को छोड़ने के लिए कहता है और स्वयं वही काम करता है, उसका उपदेश केवल ढोंग है। अतएव जो स्वयं अपने उपदेश के अनुसार चलता हो, त्यागी हो, अहिंसक हो, सत्यवादी हो, अस्तेयव्रती हो, ब्रह्मचारी हो और माया ममता से रहित हो वही मेरे धर्म का उपदेश देने का पूर्ण अधिकारी है।

हिन्दूधर्म के विषय में गांधीजी ने एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने लिखा था कि हिन्दूधर्म का उपदेश शंकराचार्य या विद्वान् नहीं दे सकते किन्तु वही दे सकता है-वही हिन्दू-धर्म का सच्चा स्वरूप बतला सकता है जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य का पालन करता हो और निष्परिग्रह हो। भगवान् महावीर ने जो कुछ कहा वही सीखकर तो गांधीजी

ने यह लिखा नहीं है। भगवान् महावीर आज से करीब अढ़ाई हजार वर्ष पहले जो बात कह गये हैं, उसकी वास्तविकता आज भी स्वीकार की जाती है।

तात्पर्य यह है कि उपदेश देने वाले को चाहिये कि वह पहले अपने आपको अपने उपदेश के अनुरूप बनावे। उसके बाद ही उसका उपदेश प्रभावजनक होगा। स्वयं आचरण न करके सिर्फ दूसरों को उपदेश देने वाले उस चाटू के समान हैं जो दाल-शाक आदि में डूबे रहकर भी किसी चीज़ का स्वाद नहीं जानते। अतएव भगवान् अरिष्टनेमि ने सोचा--मैं दूसरों को ब्रह्मचर्य का उपदेश दूँ और स्वयं विवाह करूँ तो मेरे उपदेश का क्या मूल्य होगा! इस प्रकार जनता के सामने जीता-जागता उदाहरण रखने के लिए भगवान् तोरणद्वार तक पहुँचकर लौट आये।

जिस समय दूल्हा बिना विवाह किये लौट रहा हो, उस समय बरातियों को कितना खेद होता होगा? और बराती भी साधारण मनुष्य नहीं थे। समुद्रविजय और कृष्ण जैसे प्रतिष्ठित राजपुरुषों को उस समय जो खेद हुआ होगा, उसकी कल्पना करना भी कठिन है। उन्होंने भगवान् से कहा-आपने जीवों को बंधनमुक्त कर दिया सो ठीक है। सारथी को आभूषण दे दिये सो भी ठीक है। लेकिन विवाह किये बिना ही आप वापिस लौट रहे हैं यह बड़ा अनुचित है। ऐसा करने

से हमारी प्रतिष्ठा में धब्बा लगता है। आप और जीव छुड़ा सकते हैं। चाहें तो और भी पुरस्कार दे सकते हैं। मगर विवाह किये बिना लौटना उचित नहीं है।

कृष्ण जैसे महापुरुष भी भगवान् से विवाह किये बिना न लौटने का आग्रह कर रहे थे। ऐसी स्थिति में भगवान् को क्या करना चाहिए था? उन्हें सब का कहना मान लेना चाहिए या हठ करना चाहिए? एक ओर वे सब लोग भगवान् से रुकने के लिए आग्रह कर रहे थे और दूसरी ओर भगवान् यह सोच रहे थे कि मुझे परिमित दया ही नहीं करनी चाहिए किन्तु संसार में अहिंसा का प्रचार करना चाहिए। प्रत्येक काम के लिए क्रियात्मक आदर्श की आवश्यकता है। इसके बिना यथोचित कार्य नहीं होता। ऐसी दशा में मैं कैसे रुक सकता हूँ? रोकने वालों को मेरे उद्देश्य का पता नहीं है। इसी कारण से मुझे रोकते हैं और कहते हैं कि इस प्रकार लौट जाने से हमारा अपमान होगा। किन्तु मैं किसी दूसरी कन्या से विवाह करने जाता तो ये अपना अपमान समझ सकते थे। मगर मैं तो संसार ही त्यागना चाहता हूँ। त्याग के बिना लोगों पर उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता। आज इन्हें मेरा जाना बुरा लगता है लेकिन जब मैं त्याग करूँगा तब मेरे उपदेश का प्रभाव इन पर भी पड़ेगा।

कोई कार्य स्वार्थ के लिए किया जाता है और कोई पर-मार्थ के लिए। भगवान् की जीवनी से यह शिक्षा मिलती है

कि चाहे स्वार्थ के लिए किये जाने वाले कार्य को दूसरों के आग्रह से रोक दिया जाय पर परमार्थ के कार्य को नहीं रोकना चाहिए।

भगवान् सोचते थे-ये लोग अपनी ही बात रखना चाहते हैं किन्तु मैं सारे संसार की बात रखना चाहता हूँ। मैं किसी भी जीव की बात नहीं खोना चाहता। इस प्रकार विचार कर भगवान् ने कृष्ण आदि सब को समझाया। भगवान् ने उन सब को किन शब्दों में समझाया था, यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन शायद यह कहा होगा कि मैं हठ नहीं करता हूँ। मगर दीन जीवों की दया मुझे अपनी ओर खींच रही है। ऐसी स्थति में मुझे किस ओर जाना जाहिए?

संसार में बड़े लोगों की दया तो सभी करते हैं लेकिन गरीबों की-जिनका कोई स्वामी नहीं है, दया करने वाले विरले ही होते हैं। बड़ों की जो दया की जाती है, वह दया नहीं, सेवा है। दया तो दुखी की होती है। और दया करने के लिए जो दुखी का चरित्र देखने लगता है वह दयावान् नहीं है। दयावान् वह है जो दुखी के चरित्र को सुधार देता है।

भगवान् ने सब से कहा-इन दुखी जीवों की करुणा मेरा हृदय अपनी ओर आकर्षित कर रही है। जगत् में हाय-हाय मची हुई है। उसी को मिटाने के लिए मैं यत्न करना चाहता हूँ। मैं आपका अपमान नहीं कर रहा हूँ। इस पर भी आप अपना अपमान समझते हैं तो यह आपका भ्रम है।

जो गरीब जीवों की दया करते रहते हैं उनकी ओर सभी का आकर्षण रहता है। मोरवी के महाराजा से-जो यहाँ उपस्थित हैं, मेरी बातचीत हुई तो मालूम हुआ कि आप दीनों का दुःख मिटाने के लिए लाखों की सखावत किया करते हैं और लोगों को उसका पता भी नहीं चलने देते। जिनके अन्तःकरण में ऐसी दया है, उनकी ओर हमारा भी आकर्षण होना स्वभाविक है। इसी कारण अहमदाबाद के बदले यहाँ चौमासा करना पड़ा है।

भगवान् ने कहा कि मैं उन दीन-हीन जीवों की रक्षा करना चाहता हूँ जो दुखी हैं। मैं दूसरा विवाह करने के लिए नहीं जा रहा हूँ बल्कि जगत् का उद्धार करने जा रहा हूँ।

भगवान् के इस प्रकार नम्रतापूर्ण आग्रह के सामने सब को झुकना पड़ा। भगवान् की आन्तरिक प्रेरणा से सभी प्रभावित हुए। अन्त में सबने कहा-तो भले पधारो। जैसी आपकी इच्छा!

भगवान् हाथी लौटाकर घर पहुँचे। घर पहुँच कर उन्होंने एक वर्ष तक गरीबों को यथेष्ट दान दिया। दान देने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की। उस समय कृष्ण ने उनसे कहा—

वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइंदियं।
इच्छिय मणोरहं तुरियं पावसु तं दमीसरं॥

अर्थात्—हे इन्द्रियों का दमन करने वाले ! मैं चाहता हूँ कि आपका मनोरथ पूर्ण हो।

इस प्रकार दीक्षा लेकर भगवान् दीन-दुखियों पर दया करने का उपदेश देने लगे। अगर राजा और प्रजा मिलकर इस प्रकार सम्मिलित रूप से गरीबों के उद्धार का कार्य करे तो बहुत काम हो सकता है। मोरवी के महाराज उदार और दीन-दुःखनिवारक हैं। कई राजाओं से मिलने का मुझे अवसर मिला है, लेकिन जैसी उदारता आपमें सुनी है, वह प्रशंसनीय है। आप लोगों को ऐसा दयालु राजा मिला है तो उसका सहयोग लेकर कोई सार्वजनिक हित का विशिष्ट कार्य करना उचित है। गीता में कहा है—

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत !

अर्थात्—हे पार्थ ! तू दैवी सम्पदा भोगने वाला है। इसी प्रकार आपके महाराजा भी दैवी सम्पदा भोगने वाले हैं। ऐसे राजा मिलने पर भी अगर इस राज्य में 'अमरपहेड़ा' (हिंसा-निषेध का पटह) न बजा तो कब बजेगा ? महाराज के द्वारा होने वाले शुभ कार्यों के यश में आप लोग भी कुछ भाग लें तो आपको भी लाभ होगा, इन महाराजा साहब को भी प्रोत्साहन मिलेगा और दुखियों का दुःख मिट जायगा। जब जनता गरीबों के हित के कार्यों में हाथ बँटाने लगेगी तो इन्हें भी यही विचार आएगा कि यदि मैं ऐसे कार्यों में अपनी

सम्पत्ति न लगाऊँगा तो फिर किन किन कामों में लगाऊँगा? मोरवी काठियावाड़ में एक विशिष्ट राज्य है। यह विशिष्टता स्वार्थ की ओर न खींचे तो बहुत काम हो सकता है!

भगवान् अरिष्टनेमि ने दीक्षा ली। यह समाचार सुनकर राजीमती को ऐसा आघात लगा कि वह यह सोचती हुई मूर्छित हो गई कि जब राजकुमार द्वार से लौटकर चले गये, उस समय से मुझे आशा थी कि एक बार तो वह आएँगे ही! वे मुझे संतुष्ट करके ही दीक्षा लेंगे। मगर उन्होंने मुझसे मिले बिना ही दीक्षा ले ली! यह मेरा अपमान है। इस प्रकार के विचार से राजीमती बेहोश हो गई। तब राजीमती की सखी ने उसे होश में लाकर कहा—तुम शोक और विषाद क्यों करती हो! राजकुमार का दीक्षित हो जाना तो तुम्हारे लिए आनन्द की बात है! अब किसी दूसरे राजकुमार के साथ तुम्हारा विवाह हो सकेगा। अब उनकी आशा तो नहीं रही! यह अच्छा ही हुआ। वे जैसे तन से काले हैं वैसे ही मन से भी काले हैं। राजकुमारी, जो हुआ, अच्छा ही हुआ। अब निश्चिन्त हो जाओ।

सखी की बात सुनकर राजीमती ने कहा—सखी, चुप रहो। ऐसा मत कहो। मैं उनकी निन्दा सहन नहीं कर सकती। वे शरीर से काले दिखाई देते हैं, इस कारण तुम उनकी उपेक्षा कर रही हो। लेकिन मेरी दृष्टि में उनका बहुत महत्व है।

काले होने के कारण वे उपेक्षणीय नहीं हो सकते। अगर कालापन बुरा है तो आँखों की काली-काली पुतलियों को निकालकर क्यों नहीं फेंक देतीं? सखी, तुम महापुरुषों के चरित्र की गहनता को नहीं समझ सकतीं। जो विषयभोग के कीड़े बने हुए हैं वे उनके पवित्र और उच्च चरित्र के महत्त्व को क्या समझें! अतएव तुम चुप ही रहो।

सखी—ऐसा है तो फिर उदास क्यों हो?

राजीमती—मेरी उदासी का कारण यह है कि पति तो चले गये और मैं घर में ही हूँ। राजीमती का त्याग कितना उज्ज्वल है! इसी लिए कहा जाता है—

न होते नेम राजीमती तो क्या गाते जैन के जती।

राजीमती कहती है—सखी, प्रभु मुझे जागृत करने के लिए ही आये थे। वे मेरे साथ दगा करने नहीं आये थे। अगर वे यहाँ से जाकर किसी दूसरी कन्या के साथ विवाह कर लेते तो दगा समझा जा सकता था। उन्हें क्या दूसरी कन्या नहीं मिल सकती थी? महाराज समुद्रविजय की पुत्रवधू कौन नहीं बनना चाहेगी! लेकिन उन्हें तो विवाह ही नहीं करना था। वे मुझे बोध देने के लिए ही यहाँ तक आये थे। उनका बोध मुझ तक पहुँच गया है। उनकी अव्यक्त वाणी मेरे कानों में गूंज रही है। वे कह रहे हैं-'मैं जिस मार्ग पर जा रहा हूँ, उसी मार्ग पर तू भी आ।'

मित्रो ! भगवान् अरिष्टनेमि ने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया था तो आप लोग कम से कम अपूर्ण ब्रह्मचर्य का तो पालन करो ! यह तो कहो कि-'पर स्त्री माता।' महाराजा यहाँ बैठे हैं। आपकी प्रतिज्ञा पर इनकी भी साक्षी हो जायगी।

परस्त्री को माता मानने में एक बड़ा रहस्य है। जब आप परस्त्री को माता मानेंगे तो माता का पुत्र भाई ही होगा। इस प्रकार आपकी बंधुभावना का सहज ही विकास होगा। आप दूसरों के सुख-दुःख को भाई के नाते सुख-दुःख समझने लगेंगे। दीन-दुखियों की तरफ आपका स्नेह दौड़ेगा। फिर आप उनका दुःख दूर करने में लग जाएँगे और ऐसा करके अपने जीवन को सफल बना सकेंगे। दीनों को भाई मानने पर उनका दुःख मिटाने के लिए किस प्रकार उत्सुकता रहती है, यह बात मैं राजा भोज के समय की एक घटना का उल्लेख करके बतलाना चाहता हूँ।

राजा भोज अपनी सभा में बैठा हुआ पंडितों के साथ विनोद की बातें कर रहा था। उसके द्वार पर एक पंडित आया। वह पंडित शरीर से दुर्बल था। उसके गाल रूखे थे। मस्तक पर लम्बी सी चोटी फहरा रही थी। द्वार पर आकर उसने पहरेदार से कहा-मैं महाराज भोज से मिलना चाहता हूँ।

पहरेदार ने व्यंगपूर्वक कहा—महाराज को और काम ही क्या है! वह तो तुम जैसों से मिलने के लिए ही बैठे हैं न!

दिन भर में तुम सरीखे सैकड़ों आते हैं। महाराज किस-किस से मिलें ?

पण्डित—तू आज नहीं मिलने देगा तो मैं कल या दो दिन बाद मिल लूँगा। लेकिन ऐसा न हो कि तेरा कोई अहित हो जाय ! तू जाकर राजा से कह दे कि आपके भाई आये हैं। यदि वह मुझे अपना भाई बतलाएँ तो तुम मुझे ले चलना नहीं तो मत ले चलना।

पहरेदार को यह बात पसंद आई। उसने जाकर राजा से कहा-एक पुरुष द्वार पर खड़ा है। वह अपने को आपका भाई बतलाता है और आपसे मिलना चाहता है।

राजा भोज कुछ विचारने लगा। थोड़ी देर बाद; मानो कोई भूली बात याद आ गई हो, राजा ने कहा-हाँ, मेरा एक भाई है। वही शायद आया होगा। तू जा और उसे लिवा ला।

सिपाही उलटे पैरों लौटा। उसने आगत पुरुष से कहा-आप भीतर पधारिये और मेरा अपराध क्षमा कीजिये। अनजान में मुझ से भूल हो गई।

पण्डित-कोई बात नहीं है। यह तो तुम्हारा कर्त्तव्य ही है।

यह कह कर पण्डित द्वारपाल के साथ राजा के पास गया। पण्डित को देखते ही राजा ने खड़े होकर उसका स्वागत किया। राजा के साथ सभासदों को भी उठना ही पड़ता। वह मन ही मन कहने लगे-यह कौन आया है ?

राजा ने उसे अपने साथ सिंहासन पर बिठलाया। सभासद सोचने लगे चन्द्र के साथ राहु के समान यह सिंहासन पर कौन बैठा गया है ?

सिंहासन पर बैठकर राजा ने प्रश्न किया—कहो, मौसीजी सकुशल हैं ?

पण्डित-हाँ, अब तक तो सकुशल थीं पर आपका दर्शन होते ही वह मर गई हैं।

राजा-मरना-जीना तो प्रकृति का अटल नियम है। वह किसी के हाथ की बात नहीं है। लेकिन उनका अंतिम संस्कार अच्छी तरह करना।

पण्डित-मेरी दशा आप देख ही रहे हैं। मैं अपनी स्थिति के अनुसार अंतिम संस्कार करूँगा ही। पहनी हुई इस धोती में से आधी फाड़कर उसके शव पर डाल दूँगा। इससे अधिक क्या कर सकता हूँ ?

राजा—नहीं जी, ऐसा क्यों ? अपनी मौसी के अंतिम संस्कार के लिए मैं तुम्हें सहायता दूँगा।

पण्डित-आप सहायता देंगे तो उसी के अनुसार क्रिया-कर्म कर दूँगा।

राजा ने भण्डारी को एक हजार मोहरें निकालकर दे देने की आज्ञा दी। भण्डारी यह आज्ञा सुनकर आश्चर्य में पड़ गया।

क्या विपत्ति के समय सहायता करेंगे ? इस प्रकार का विचार करके सम्पत्ति द्वारा गरीबों की विपत्ति मिटाओ। अगर आपने गरीबों का दुःख-दर्द दूर करने की ओर ध्यान दिया तो बढ़ते-बढ़ते सुबाहुकुमार की स्थिति प्राप्त कर सकते हो। कहा भी है—

परोपकाराय सत्तां विभूतयः।

मैं महाराजा से भी पूछना चाहता हूँ कि आप सम्पत्ति के पुत्र हैं लेकिन अपने भाई विपत्ति के पुत्र को कभी याद करते हैं या नहीं ? गरीबों की सेवा-सहायता करने में ही सम्पत्ति की सार्थकता है। अतएव क्या महाराजा क्या दूसरे लोग, सभी गरीबों को याद रक्खें। तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है-

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्रान॥

अगर आप अपनी सम्पत्ति को दीन-हीन जनों की सहायता में लगाएँगे तो वह सम्पत्ति आपकी चिरसहचरी बन जायगी। आप मानव-जीवन को और सम्पत्ति को सफल बना सकेंगे और अपना कल्याण साध सकेंगे।



हृदयबल और मस्तिष्कबल



जय जय जिन त्रिभुवन धणी ।

यह भगवान् शीतलनाथ की प्रार्थना है। आत्मा परमात्मा को पहचान कर कहता है कि, हे प्रभो ! तेरा जय जयकार हो, क्योंकि तू त्रिभुवन का नाथ है और जिन है। इसलिए तेरी जय हो ! जय हो !

भगवान् शीतलनाथ जिन होने के कारण त्रिभुवन के नाथ हुए हैं और त्रिभुवन के नाथ होने के कारण ही उनकी जय बोली जाती है। इस बात पर अगर भलीभाँति विचार किया जाय तो आत्मा को बहुत बोध मिल सकता है। बहिरात्मा मनुष्य विचार करता है कि मैं अपनी शारीरिक शक्ति के द्वारा सारे संसार को अपने अधीन कर लूँगा। यह विचार कर वह ऐसे ही प्रपंच में फँस जाता है। अन्त में जब वह देखता है कि सारे संसार की बात दूर, मैं अपने शरीर को भी वश में नहीं कर पाया हूँ तो उसे बड़ी निराशा होती है। वह पश्चात्ताप की आग में दग्ध होने लगता है। मगर उस समय वह अशक्त हो जाता है, अतएव सिवाय पश्चात्ताप के और कुछ

भी नहीं कर पाता । वृद्धावस्था और उसके साथी-संगी मानों उसका उपहास करते हैं !

इसके विपरीत जो विवेकवान् पुरुष इस बात का विचार करता है कि भगवान् शीतलनाथ त्रिभुवन के नाथ कैसे बने हैं ? त्रिभुवन की श्रेष्ठ सम्पदा उन्हें किस प्रकार प्राप्त हुई ? त्रिभुवन की लक्ष्मी ने उनके गले में वरमाला क्यों डाली ? तब आत्मा को ज्ञान होता है कि भगवान् ने समस्त प्रकार की अनुचित प्रवृत्ति रोक दी थी । कर्मों का जाल काट कर फैंक दिया था और राग द्वेष पर पूर्ण रूप से विजय पाई थी । इसी कारण संसार की समस्त श्रेष्ठ सम्पदा उन्हें प्राप्त हुई थी । क्या जैनशास्त्र और क्या दूसरे शास्त्र, सभी एक स्वर से कहते हैं कि राग-द्वेष का समूल नाश किये बिना आत्मा में पूर्णता नहीं आ सकती । और जब तक आत्मा में पूर्णता नहीं आती तब तक वह संसार की समस्त श्रेष्ठ सम्पदा का अधिकारी नहीं है । जो महाभाग राग-द्वेष को पूरी तरह जीतकर पूर्ण हो जाता है, सारा संसार उसका दास बन जाता है और उसकी जय मनाने लगता है । इस प्रकार समस्त संसार अपने अधीन किया जाता है, पर चाहिए प्रयत्न करने वाला । प्रयत्न अपने लिए आप ही किया जाता है ! एक, दूसरे के लिए प्रयत्न नहीं करता ।

भक्तों ने भगवान शीतलनाथ की प्रार्थना में कहा है—

जय जय जिन त्रिभुवन धणी,

करुणानिधि करतार-सेव्यां सुरतरू जहवो ।

हे प्रभो ! आपकी जय हो ! क्योंकि आप त्रिभुवनपति हैं और साथ ही दयासागर भी है। आप केवल अपनी ही दया नहीं करते किन्तु संसार के सभी जीवों की दया करते हैं। संसार के सब जीवों की दया से प्रेरित होकर ही आपने महान् प्रवृत्ति की है।

कहा जा सकता है कि जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है, उसे किसी प्रकार की प्रवृत्ति में पड़ने की क्या आवश्यकता है ? ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिए कि कोई आदमी अपने पास की वस्तु जगत् के सामने खोलकर रख दे और सब लोगों को उस वस्तु से लाभ उठाने के लिए आह्वान करे तो उसकी यह उदारता क्या सराहनीय नहीं है ? एक व्यक्ति ने कहीं से रत्न उपार्जन किये हैं। वे उसके भण्डार में भरे हैं। लेकिन वह आदमी अपना भण्डार खोलकर सब से कहता है—'इन रत्नों से कोई भी लाभ उठा लो। वह यह भी सोचता है कि मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है सो सिर्फ मेरे लिए ही प्राप्त नहीं हुआ है किन्तु सभी के हित के लिए प्राप्त हुआ है। ऐसा कहने और समझने वाले व्यक्ति की उदारता और संतोषवृत्ति कैसी आदर्श है ! उसमें ऐसी उदारता है, इसी कारण तो अपने श्रम से प्राप्त वस्तु का लाभ वह दूसरों को दे सकता

है। मान लीजिए—किसी आदमी ने एक महल बनवाया। अगर वह सोचता है कि इस महल से केवल मैं ही लाभ उठाऊँ और दूसरा कोई लाभ न उठा सके; तो मानना होगा कि उसमें समभाव नहीं है। इसके विरुद्ध दूसरा महल का मालिक सोचता है—यह महल मुझे छाया देता है। अगर इसके बगल में दूसरा कोई आदमी आकर खड़ा हो जाय तो यह महल उसे भी छाया देगा। इस तरह जब महल में राग-द्वेष नहीं है तब मैं क्यों राग-द्वेष करूँ? ऐसा सोचकर वह सभी को महल से लाभ उठाने देता है तो कहना होगा कि उसमें समभाव है, राग-द्वेष नहीं है।

सारांश यह है कि अपनी वस्तु का लाभ दूसरे को तभी लेने दिया जाता है जब हृदय में समभाव हो। उदाहरण के लिए मेघकुमार की बात लीजिए। मेघकुमार ने हाथी के भव में जो मंडल बनाया था, उस मंडल से अगर उसे ममत्व होता और उसमें राग-द्वेष की उत्कटता होती तो वह दूसरे प्राणियों को मंडल से लाभ न उठाने देता। हाथी में उदारता थी, इसी कारण उसने दूसरे जीवों को आश्रय लेने दिया।

इसी तथ्य को आगे बढ़ाकर देखो कि भगवान् ने राग-द्वेष को नष्ट करके भी दूसरे जीवों की दया के लिए महान् प्रवृत्ति क्यों की! अगर आप गंभीरता के साथ इस बात पर विचार करेंगे तो आपको परमात्मा का रूप समझ में आ

जायगा। आप समझ सकेंगे कि जब किंचित् आत्मिक विकास होने पर भी अर्थात् थोड़े अंश में राग-द्वेष के मिटने और आंशिक रूप से समभाव आने पर आत्मा अपनी वस्तु का दूसरों को लाभ उठाने देता है तो जिन परमात्मा ने पूर्ण रूप से राग-द्वेष का नाश कर दिया है, जो त्रिलोकीनाथ हो चुके हैं, वे अगर प्राप्त ज्ञान का लाभ दूसरों को-अंधकार में भटकने वाले संसारी मनुष्यों को-दें तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? उनमें ऐसी उदारता-अनुकम्पा क्यों न हो? भगवान् अपनी इस उदारता के फलस्वरूप ही अज्ञान-अंधकार से व्याप्त इस विश्व में ज्ञान का लोकोत्तर प्रकाश फैलाते हैं और जगत् को आह्वान करके कहते हैं-'भद्र पुरुषो! जो शक्ति मुझमें है वह तुममें भी विद्यमान है। साधना के जिस पथ का मैंने अनुसरण किया है, उसी पथ पर तुम भी अग्रसर होओ। ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा में उसी शक्ति का प्रकाश होगा जो तुम मुझमें देखते हो।

यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है। जो शक्ति भगवान् में है और जिसे भगवान् ने प्रकट किया है वही शक्ति जब सभी में विद्यमान है तो सभी लोग उसे प्रकट क्यों नहीं कर पाते? अगर कोई यह कहता है कि जो शक्ति परमात्मा में है वह हममें-आत्मा में नहीं है तो वह भयंकर भूल करता है। मैं कई बार कह चुका हूँ कि आत्मा और परमात्मा [illegible] तीय हैं। दोनों का स्वभाव और गुण मूलतः एक [illegible]

दोनों में मौलिक अन्तर कुछ भी नहीं है। जो कुछ अन्तर है वह औपाधिक है। परमात्मा अपने स्वभाव के समस्त आवरणों को दूर कर चुके हैं और आत्मा के स्वभाव पर कर्म के आवरण हैं। इन आवरणों के कारण आत्मा की शक्तियाँ उसी प्रकार प्रकट नहीं हो पातीं, जिस प्रकार मेघों के कारण सूर्य का प्राकृतिक तेज नहीं प्रकट होता। इस भिन्नता को द्योतित करने के लिए ही 'परम' विशेषण लगाया जाता है। अर्थात् जो आत्मा समस्त आवरणों से अतीत हो जाता है वह परम आत्मा-परमात्मा है और जो आवरणों से युक्त है वह आत्मा है। यह दोनों संज्ञाएं स्पष्ट संकेत कर रही हैं कि परमात्मा और आत्मा वस्तुतः सजातीय द्रव्य हैं। बाहरी सम्पत्ति की कम ज्यादा है, पर आत्मिक सम्पत्ति सभी जीवों की समान है।

तो फिर सभी जीव परमात्मा क्यों नहीं बन जाते? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य आदि जीवों को तो हम आत्मिक एक ही कोटि में मानते हैं। फिर इसमें यह प्रश्न किया जा सकता है कि अगर सभी

राष्ट्रपति पद के विषय में कही जा सकती है और यही समाधान परमात्मा के विषय में किया जा सकता है। वस्तुतः जीव परमात्मा बन सकते हैं किन्तु सभी की योग्यता का विकास नहीं हो पाता। आत्मिक गुणों का सर्वान्तिम विकास होने पर परमात्मदशा प्राप्त होती है। यही कारण है कि सभी जीव वह सर्वोत्कृष्ट दशा प्राप्त नहीं कर सकते। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि परमात्मा और आत्मा में कोई मौलिक भेद है जो मिट नहीं सकता।

आन्तरिक सम्पत्ति समान होने पर भी सब जीव परमात्मा नहीं बनते, इसका एक कारण और भी है। आत्मा जब कुछ विकास करता है और उसकी बुद्धि बढ़ती है तो वह बुद्धि कूदफाँद मचाने लगती है। बुद्धि की इस कूदफाँद को ही आज मस्तिष्कशक्ति कहा जाता है और जिसके पास वह ज्यादा होती है उसकी तारीफ की जाती है। उसी मस्तिष्कशक्ति से बैरिस्टर लोग एक-एक बात के लिए हजारों रुपये ले लेते हैं। इस प्रकार आज मस्तिष्क को बहुत महत्त्व दिया जाता है और प्रत्येक विषय पर उसी को आगे करके विचार किया जाता है। लेकिन आध्यात्मिक शक्ति को प्रकट करने का कार्य केवल दिमागी शक्ति या मानसिक विचारों के द्वारा नहीं हो सकता। बल्कि जो व्यक्ति केवल मस्तिष्क की शक्ति पर निर्भर रहता है वह आत्मा में रही हुई शक्ति को प्रकट नहीं कर सकता। इसका आशय यह नहीं है कि आत्मिक शक्ति

को प्रकट करने के लिए मस्तिष्क का उपयोग ही न किया जाय। मेरे कहने का आशय यह है कि उसे प्रधानता न दी जाय और मस्तिष्क को हृदय के अधीन बनाया जाय। मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय को अधिक महत्त्व मिलना चाहिए। जो ऐसा करता है वही आत्मिक शक्ति प्राप्त कर पाता है।

आजकल आम तौर पर हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक महत्त्व दिया जाता है। प्रायः लोग मस्तिष्क के कथनानुसार ही चलते हैं। कल्पना करो कि एक आदमी किसी श्रीमंत की लड़की को व्याह लाया है। लड़की छबीली है, बनी-ठनी है और आजकल के फैशन के अनुसार रहती है। दूसरी ओर उस पुरुष की माता है जो पुराने विचारों की है। अब वह पुरुष किसके अधीन होकर रहना चाहेगा? और वास्तव में उसे माता के अधीन रहना चाहिए या पत्नी के अधीन रहना चाहिए? यद्यपि उचित तो यही है कि पुत्र अपनी माता के अधीन होकर रहे किन्तु देखा जाता है इसके विपरीत ही अर्थात् पुरुष पत्नी के अधीन हो जाता है। इसका प्रधान कारण हार्दिक विचारों को प्रधानता न मिलना ही है। वह मनुष्य मस्तिष्क के विचारों से प्रभावित हो जाता है। उसे सोचना तो यह चाहिए कि सुसर ने मेरी श्रीमंताई देखकर अपनी लड़की दी है लेकिन माता ने क्या देखकर मेरा पालन किया है? माता ने केवल हृदय की प्रेरणा से ही मेरा पालन किया है। उसने और कुछ नहीं देखा। हार्दिक विचारों

से प्रेरित होकर ही माता ने मेरे लिए कष्ट उठाये हैं। इस प्रकार जिस हृदय-बल के कारण मेरा पालन-पोषण हुआ है, उस हृदय को अब भूल जाना कृतघ्नता तथा मूर्खता है। मगर ऐसा विचार कितने लोगों को होता है? मेरा खयाल है, आज पत्नी के अधीन होकर माता की उपेक्षा करने वाले लोग ही ज्यादा निकलेंगे।

मातृहृदय की सभी लोगों ने प्रशंसा की है। आज के वैज्ञानिकों का भी यही कहना है कि माता में हृदय का बल होता है। इसी बल के कारण वह सन्तान का पालन करती है और सन्तान के लिए कष्ट उठाती है। यदि माता में हृदय बल न होता तो वह स्वयं कष्ट सहन करके सन्तान का पालन क्यों करती? कहा जा सकता है कि माता भविष्य संबंधी आशाओं से प्रेरित होकर सन्तान का पालन करती है। इसके उत्तर में यही कहा जायगा कि पक्षियों को अपनी संतान से क्या आशा रहती है? पक्षी के बच्चे बड़े होकर उड़ जाते हैं। वे न पिता को पहचानते हैं और न माता को ही। फिर पक्षी अपनी संतान का पालन क्यों करते हैं? उन्हें किसी प्रकार की आशा नहीं होती। फिर भी वे संतान का पालन करते हैं। इसका एक मात्र कारण हृदय-बल ही है। इस प्रकार मातृ-हृदय संसार की अनूठी सम्पदा है, अनमोल निधि है। इसी कारण सब ने मातृहृदय की प्रशंसा की है। पहले बालकों को यह शिक्षा दी जाती थी—

टगमग पग टगता नहीं खाय न सकता खाद ।
उठी न सकतो आपथी लेश हती नहिं लाज ॥
ते समये आणी दया बालक ने मां-बाप ।
सुख आपे दुःख वेठने ते उपकार अमाप ॥
कोई करे एवे समय बे घड़ियक बरदास ।
सारी उम्मर थइ रहे ते नरनो नरदास ॥

इस प्रकार माता ने हृदय-बल से ही अपनी सन्तान को पाला है। इसी कारण बालकों को ऐसी शिक्षा दी जाती थी। लेकिन आजकल के लोग उस हृदय-बल को भूलकर मस्तक के विचारों के अधीन हो जाते हैं और पत्नी के गुलाम बन कर माता की उपेक्षा करते हैं। यह कृतघ्नता नहीं तो क्या है?

मतलब यह है कि आत्मा में जो शक्ति है वह हृदय-बल द्वारा ही प्रकट की जा सकती है। जो लोग अपने हृदय की उपेक्षा करके मस्तक द्वारा हिलाई हुई डोरी के अनुसार ही नाचते हैं वे आत्मिक शक्ति कैसे प्राप्त कर सकते हैं? उस शक्ति को प्रकट करने का सामर्थ्य तो हृदय-बल में ही है। इसी कारण सभी विवेकवान् हृदयबल की प्रशंसा करते हैं। गीता में भी हृदय-बल की सराहना की गई है, लेकिन यह बात अभ्यास करने पर ही मालूम होती है।

कुछ लोगों का खयाल है कि गीता लड़ाई की पुस्तक है।

उसमें युद्ध को उभारने की शिक्षा दी गई है। मगर ऐसा होता तो गीता की गणना ऐतिहासिक पुस्तकों में होनी चाहिए थी। धार्मिक ग्रंथों में उसकी गिनती क्यों होती ? बहुत-से लोग उसे धार्मिक ग्रंथ मानकर उसका अध्ययन करते हैं। ऐसा भी क्यों किया जाता ? गीता वास्तव में लड़ाई की पुस्तक नहीं है। उसमें आलंकारिक रूप में हृदय-बल को प्रकट करने की शिक्षा दी गई है। मेरा यह विचार नवीन नहीं, बहुत पहले का है और इसे मैं पहले भी प्रकट कर चुका हूँ। गीता में कौरव-पाण्डव-युद्ध की बात आई है। किन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा कि वहाँ आलंकारिक रूप में आसुरी शक्ति या मस्तिष्क की शक्ति को कौरव का रूप दिया गया है। दैवी शक्ति या हृदयबल को पाण्डवों का रूप प्रदान किया गया है। इन दोनों में युद्ध कराकर दैवी शक्ति अथवा हृदय-बल की विजय दिखलाई गई है। अतएव गीता युद्ध की पुस्तक नहीं है किन्तु धर्म सिखलाने वाली पुस्तक है। भारत में ऐसा उच्च कोटि का साहित्य विद्यमान है, किन्तु आज भारतीय लोग भारत के इस साहित्य की तो उपेक्षा करते हैं और कोई विदेशी विद्वान् इसी साहित्य का कुछ अंश बोलता है तो उसे बहुत महत्त्व देते हैं। कई लोगों को तो भारतीय साहित्य की बात पसंद ही नहीं आती। लेकिन जिस प्रकार राम के मंदिर में राम की और भैरों के मन्दिर में भैरों की ही मूर्त्ति होती है, दूसरे की नहीं, उसी प्रकार यहाँ तो भारतीय साहित्य की ही

बात हो सकती है। फिर चाहे वह किसी को अच्छी लगे या न लगे।

गीता के संबंध में यह मानकर विचार किया जाय कि वहाँ कौरव का अर्थ आसुरी शक्ति या मस्तिष्क का बल है और पाण्डव का अर्थ दैवी शक्ति या हृदय का बल है और इन्हीं दोनों का युद्ध करवा कर दैवी प्रकृति की विजय दिखलाई गई है; तो गीता में बहुत चमत्कार दिखाई देगा। पाण्डवों के रूप में वहाँ दैवी बल की स्थापना की गई है। युधिष्ठिर पाण्डव थे। उनसे वन में भी अगर पूछा जाता था कि आप कैसे हैं, तो वे सदैव यही उत्तर दिया करते थे-आनन्द है। इस प्रकार उनके सदैव आनन्द में रहने का कारण यही था कि उन्हें हृदय-बल प्राप्त था। अतएव हृदय-बल को पाण्डवों का रूप दिया गया है। यह बात ठीक तरह समझाने के लिए महाभारत में आई हुई एक घटना सुनाता हूँ।

पाण्डव वन में थे। उस समय उनके दिन बहुत ही कष्ट-पूर्वक बीत रहे थे। यहाँ तक कि भरपेट भोजन भी उन्हें नहीं मिल पाता था। उन दिनों एक बार धर्मराज सहज ही द्रौपदी के झोंपड़े में चले गये। उस समय द्रौपदी किसी जंगली अनाज़ को साफ कर रही थी। धर्मराज को आते देख द्रौपदी ने उठ कर उनका स्वागत किया। धर्मराज ने द्रौपदी से पूछा-देवी, क्या कर रही हो?

द्रौपदी—सच कह दूँ?

धर्मराज—क्या यह भी पूछने की बात है? सत्य तो कहना ही चाहिए।

द्रौपदी—अगर आप सत्य सुनना चाहते हैं तो मैं कहती हूँ कि आपका पाप भोग रही हूँ। मैं राजमहल में रहने वाली, सब तरह के सुख भोगने वाली और वीरपत्नी होकर भी आज यहाँ जंगली अन्न साफ कर रही हूँ। उसे आपका पाप न कहूँ तो क्या कहूँ? आप ही तो भीम और अर्जुन को बराबर दबाया करते हैं! अभी उस दिन की बात है कि दुर्योधन को दूसरे लोगों ने बाँध लिया था। अगर दुर्योधन उस समय मारा जाता तो अपना तो दुःख ही मिटता। लेकिन आपने उस पापी को बचा लिया। आपने ही विधान किया कि दुर्योधन दूसरे के द्वारा नहीं मारा जाना चाहिए। वह अपना भाई है। जब उसके साथ अपना युद्ध होगा तो वे सौ भाई हैं और हम लोग पाँच भाई हैं। लेकिन किसी तीसरे के साथ युद्ध होने पर अपन एक सौ पाँच भाई हैं। इस प्रकार कह कर और अर्जुन को भेजकर आपने ही उस पापी को बचा लिया और मुझे यह दुःख भोगना पड़ रहा है! इसलिए मैं इस दुःख को आपका ही पाप कहती हूँ।

धर्मराज—अच्छा देवी, उस समय मुझे क्या करना चाहिए था?

द्रौपदी—उसे मरने देना चाहिए था ।

धर्मराज—देवी, तुमने अब तक मुझे और मेरे सिद्धान्त को नहीं समझ पाया। यह मेरा दुर्भाग्य ही समझना चाहिए।

धर्मराज के यह कहने पर द्रौपदी कुछ हिचकिचाई। वह कहने लगी-महाराज, अगर मुझसे कुछ भूल हुई है तो आप बतलाइए। आपके शब्दों ने मुझे व्यथित कर दिया है।

धर्मराज—तुम मेरे हृदय को तो समझती हो, मगर तुमसे फिर-फिर भूल हो जाती है। देवी, आज तुम ऐसा कहती हो लेकिन जिस समय मैंने तुम्हें जुए के दाव पर लगा दिया था, मैं तुम्हें हार गया था और तुम्हारे वस्त्र खींचे जा रहे थे, उस समय तुम्हारी रक्षा किसने की थी? उस समय तुमने किसकी प्रार्थना की थी? क्या उस समय तुम्हारी रक्षा भीम और अर्जुन ने की थी? वे तो मेरी ही तरह दास बने बैठे थे। फिर तुम्हारी रक्षा कैसे हुई थी?

द्रौपदी—उस समय किसी ने मेरी रक्षा नहीं की थी। मैं ने तब परमात्मा की ही प्रार्थना की थी कि-हे प्रभो! यहाँ मेरे पति और पितामह आदि सभी लोग बैठे हैं। फिर भी मेरी लाज जा रही है। इस समय मेरी रक्षा होनी चाहिए।

धर्मराज—उस समय सब बलों को त्याग कर परमात्मा की शरण में जाने से ही तुम्हारी रक्षा हुई थी। इससे यही नतीजा निकलना चाहिए कि दूसरे सभी बलों का त्याग कर

देने पर ही ईश्वरीय तत्त्व या बल प्राप्त होता है।

दूसरे सब बल त्यागने पर ही ईश्वरीय तत्त्व की प्राप्ति होती है, यह बात जैन शास्त्र भी कहते हैं। और दूसरे शास्त्र भी कहते हैं। यह बात दूसरी है कि कोई किसी रीति से कहता है और कोई किसी रीति से; लेकिन कहते सभी हैं। द्रौपदी ने जब सभी बलों का परित्याग कर दिया था और वह एकान्त रूप से परमात्मा की शरण में चली गई थी, तभी उसकी रक्षा हुई थी। इसीलिए कहा गया है—

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।
द्रुपदसुता निर्बल भई जा दिन गांहि लाये निज धाम।
दुश्शासन की भुजा थकित भई वसन रूप भये श्याम॥
सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

द्रौपदी ने जब सब ओर की आशा त्याग दी और वह निर्बल हो गई तब उसकी आत्मा में तेज आया। आत्मा जब तक अपने दुष्कृत्य नहीं त्यागता है तब तक उसे पारमात्मिक बल की प्राप्ति नहीं होती। गीता में कहा है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

आशय यह है कि जो दुष्कृत्य नहीं त्यागते वे परमात्मा को नहीं भज सकते। वही पुण्यात्मा परमात्मा को भज सकते

हैं, जिनके पाप सुकृत्यों के कारण नष्ट हो चुके हैं। जो लोग माया के चक्कर में पड़े हैं वे प्रथम तो परमात्मा को भजेंगे ही नहीं, कदाचित् भजेंगे भी तो केवल इसलिए कि मेरा अमुक प्रयोजन सिद्ध हो जाय। ऐसे लोग जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए परमात्मा को भजते हैं, वह प्रयोजन किसी कारण अगर सिद्ध नहीं होता तो वे कहने लगते हैं-है कहाँ परमात्मा! होता तो अपना परिचय न देता ?

वास्तव में आत्मा अपनी भूल तो देखता नहीं है और केवल दूसरों के दोष देखा करता है। सूर्य का प्रकाश तो सर्वत्र फैल जाता है, मगर किसी अंधे से पूछो तो क्या वह जान सकता है कि सूर्य का प्रकाश फैला हुआ है! इसी प्रकार उल्लू और चमगीदड़ भी सूर्य के विषय में क्या कहेंगे? वे यही कहेंगे कि सूर्य तो और अधिक अंधकार करने वाला है! उसके निकलने पर हमको कुछ दीखता ही नहीं है। लेकिन देखना चाहिए कि यह सूर्य की भूल है या जिन्हें दिखाई नहीं देता उन्हीं का दोष है? इसी प्रकार परमात्मा को देखने के संबंध में भी आत्मा से भूल होती है। परमात्मा अगर नहीं दीखता है तो अपनी भूल के ही कारण। अन्यथा परमात्मा तो प्रत्यक्ष ही है। परमात्मा को इस हिसाबी पद्धति से नहीं देखा जा सकता कि मैंने यह किया है इसलिए मेरा यह काम होना चाहिए। परमात्मा को देखने के लिए समस्त बल का त्याग करना पड़ता है।

धर्मराज द्रौपदी से कहने लगे—देवी ! उस समय तुम्हारी रक्षा किसने की थी ? कदाचित् मेरे द्वारा अथवा भीम या अर्जुन द्वारा तुम्हारी रक्षा होती भी तो क्या वैसा आनन्द आता जैसा आनन्द इस तरह रक्षा होने में आया ! इस तरह विचार कर तुम वास्तविकता को समझो और हार्दिक विचारों को भूलकर मस्तिष्क के विचारों में मत पड़ो। मस्तिष्क सदा सांसारिक सुखों की ही खोज में रहता है, किन्तु हृदय न्याय और धर्म को ही चाहता है। मैंने हृदय की प्रेरणा से ही दुर्योधन को बचाया है। हृदयबल के कारण ही मैंने उसको दूसरे के द्वारा नहीं मारा जाने दिया। दुर्योधन भले धर्म को भूल जाय, अन्याय के पथ पर चले और दुष्टतापूर्ण व्यवहार करे मगर उसके कारण मुझे तो हृदयबल की अवहेलना नहीं करनी चाहिए ! समभाव का त्याग करना मेरे लिए उचित नहीं है। दूसरे की देखादेखी करके अपने सौजन्य को त्याग देने वाला पुरुष बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता। बुद्धिमान् पुरुष प्रत्येक समय अपने ही स्वभाव को देखते हैं। किस प्रकार देखते हैं, यह बताने के लिए तुम्हें एक बात सुनाता हूँ।

एक ब्राह्मण गंगा के किनारे खड़ा हुआ था। किनारे के वृक्ष पर एक बिच्छू चढ़ा था। वह गंगा के जल में गिर पड़ा और तड़फड़ाने लगा। यह देखकर ब्राह्मण को दया आ गई। उसने एक पत्ता लेकर बिच्छू को उठाया। लेकिन बिच्छू हाथ

पर चढ़ गया और उसने हाथ में डंक मार दिया। डंक लगते ही ब्राह्मण का हाथ हिल गया और बिच्छू फिर पानी में गिर पड़ा। ब्राह्मण ने उस बिच्छू को फिर उठाया लेकिन फिर भी ऐसा ही हुआ। ब्राह्मण ने तीन-चार वार बिच्छू को उठाया लेकिन हरबार बिच्छू ने उसे काटा। यह हाल देखकर वहाँ खड़े, कुछ लोग कहने लगे—यह ब्राह्मण कितना मूर्ख है! बिच्छू इसे बार-बार काटता है और यह उसे बार-बार उठाता है! उसे मरने क्यों नहीं देता ?

इन लोगों के कथन के उत्तर में ब्राह्मण ने कहा-बिच्छू अपना स्वभाव प्रकट कर रहा है और मैं अपना स्वभाव दिखला रहा हूँ। जब बिच्छू अपना स्वभाव नहीं त्यागता तो मैं अपना स्वभाव कैसे त्याग दूँ ?

धर्मराज कहते हैं-देवी, यह हृदयबल का ही प्रताप था कि ब्राह्मण ने बिच्छू के बार-बार काटने पर भी उसे पानी से निकालना नहीं त्यागा। ब्राह्मण में अगर हृदयबल न होता और सिर्फ मस्तक का ही बल होता तो वह भी दूसरों की तरह कह देता-मरता है तो मरे! बात यह है कि जिसमें हृदय का बल है वह दूसरे को देखकर अपना स्वभाव नहीं बदलता है। उस ब्राह्मण की तरह यही सोचता है कि जब मेरा विरोधी अपना स्वभाव नहीं त्यागता तो मैं भी अपना स्वभाव क्यों त्यागूँ ? देवी, तुममें भी हृदयबल है। हृदयबल न होता तो

तुम हमारे साथ कष्ट क्यों भोगतीं ? तुमने हमारे साथ रह-कर बहुत कष्ट भोगे हैं, इससे प्रकट है कि तुम्हें हृदयबल प्राप्त है और तुम सीता तारा आदि सतियों के पदचिह्नों पर चल रही हो, लेकिन कभी-कभी कष्ट से घबरा कर ऐसा कहने लगती हो।

मतलब यह है कि गीता में हृदयबल को ही महत्त्व दिया गया है। हृदयबल न होने अथवा हृदयबल पर मस्तिष्कबल की विजय होने पर ही माता का अपमान किया जाता है और पत्नी की अधीनता स्वीकार की जाती है। यद्यपि संसार में ऐसे-ऐसे नर-वीर भी हुए हैं जिन्होंने माता के लिए सब कुछ, यहाँ तक कि स्त्री को भी त्याग दिया है। लेकिन ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जो स्त्री को प्रसन्न करने के लिए माता का भी अपमान करने से नहीं चूकते। इस प्रकार संसार में दोनों ही बल हैं और रहेंगे, मगर हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा का कल्याण हृदयबल से ही हो सकता है। हृदयबल होने पर ही दूसरों के कल्याण की कामना अन्तःकरण में जागृत होती है। देश, समाज या आत्मा के सुधार की लगन हृदय-बल से ही उत्पन्न होती है। पश्चिमी देशों में यद्यपि मस्तिष्क के बल को अधिक महत्त्व दिया जाता है और प्रधानतः उसीका आश्रय लिया जाता है, लेकिन हृदयबल की प्रशंसा तो उन्हें भी करनी पड़ती है।

सुना है, एक अमेरिकन पुरुष भारत में आया। एक भार-

तीय से उसकी मित्रता हो गई। अमेरिकन अपना कार्य समाप्त करके अमेरिका लौट गया। उसका वह भारतीय मित्र जब अमेरिका गया तब उसने अपने अमेरिकन मित्र से मिलने का विचार किया। वह उसके घर पहुँचा। साहब उस समय घर नहीं था। उसकी पत्नी ने भारतीय अतिथि का सत्कार करके उसे बिठलाया। भारतीय ने पूछा—साहब कहाँ गये हैं ? मेम साहिबा ने कहा—आप बैठिये, अब उनके लौटने में कुछ ही समय बाकी है। आते ही होंगे।

भारतीय सज्जन बैठे रहे। थोड़ी देर बाद ही उन्होंने देखा कि साहब आ रहे हैं मगर उनके दोनों कन्धों पर दो कुदाल रक्खे हैं और वे मिट्टी से लथपथ हैं। भारतीय सज्जन मन ही मन सोचने लगे—भारत में यह इतने ऊँचे पद पर कार्य करता था और बड़े ठाट से रहता था। यहाँ इसका यह कैसा हाल है ? क्या इसका दीवाला निकल गया है ? इस प्रकार सोचते हुए वह भारतीय उससे मिलने के लिए आगे बढ़े। उन्होंने साहब का अभिवादन किया। मगर साहब उनसे कुछ भी न बोले। जब साहब की लड़की ने उन्हें पानी दिया और साहब स्नान करके अपनी बैठक में आये, तब वह अपने मित्र से मिले।

भारतीय मित्र ने साहब से पूछा—आप भारत में तो बड़े पद पर थे। अब यहाँ इस प्रकार क्यों रहना पड़ता है !

साहब बोले-हम लोग भारतीयों सरीखे नहीं हैं। भारतीय नतिके आगे बढ़े कि वास्तविकता को और अपने असली धंधे को भूल जाते हैं। हम लोग नहीं भूलते। खेती करना हमारे बाप-दादों का धंधा है। मैं जब तक भारत में था; दूसरा काम करता था। लेकिन जब यहाँ आया हूँ तो अपने पैत्रिक धंधे में लगा हूँ।

इस प्रकार की विचारधारा हृदयबल से ही उत्पन्न होती है। भारतीय लोग हृदयबल को जल्दी भूल जाते हैं। इस कारण जहाँ कोई बी. ए. एल-एल. बी. होता है कि दो-चार आदमियों के लिए भी भारभूत हो जाता है। कारण यही है कि उसका हृदयबल दब जाता है और मस्तिष्क का बल उभड़ आता है।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि आपको सोचना चाहिए कि माता ने मुझे हृदयबल से ही पाला है। माता में हृदयबल न होता, करुणा न होती, तो वह मेरा पालन क्यों करती? मुझे फेंक क्यों न देती? हृदयबल के प्रताप से ही वह मेरा रोना सुनकर पालने के पास दौड़ी आती थी, सब काम छोड़ कर पहले मेरी फरियाद सुनती थी।

मैं महाराज को याद दिलाना चाहता हूँ कि आपकी प्रजा आपके लिए पुत्र के समान है और आप प्रजा के लिए माता-पिता के समान हैं। पुत्र अपनी फरियाद माता-पिता को न

सुनाएगा तो किसे सुनाएगा? आप प्रजा की फरियाद न सुनेंगे तो कौन सुनेगा? माता अपने पुत्र को कभी थप्पड़ भी मार देती है, लेकिन उसका हृदय तो पुत्र के कल्याण की कामना से परिपूर्ण ही रहता है और फिर उसे पुचकार भी लेती है। इसी प्रकार महाराज ने जो कारागार बना रक्खा है वह प्रजा के कल्याण के लिए ही होना चाहिए और जो अस्पताल बना रक्खा है वह भी प्रजा की भलाई के लिए ही होना चाहिए। माता को थप्पड़ भी मारनी पड़ती है और पुचकारना भी पड़ता है, लेकिन जो भी वह करती है, हृदय की प्रेरणा से ही करती है। उसके हृदय में बालक की एकान्त कल्याण-कामना ही रहती है। इसी प्रकार आप भी प्रजा पर माता के समान दया रक्खें। राजा और प्रजा में जब इस प्रकार का मधुर संबंध स्थापित हो जायगा तो भारतवर्ष पहले की ही भाँति सुखी, शान्त और समृद्ध बन जायगा। दैवयोग से ऐसा न हुआ तो सारे संसार में जो स्थिति पैदा हो रही है, भारतवर्ष उससे अछूता कैसे रहेगा?

मोरवी-महाराज को मैंने एक दिन राजा भोज की एक कथा सुनाई थी। आज दूसरी कथा सुनाता हूँ। इस कथा से विदित होगा कि राजा में किस प्रकार के हृदयबल की आवश्यकता है?

एक बार राजा भोज घोड़े पर सवार होकर किसी नदी

के किनारे वायुसेवन के लिए गये। उन्होंने देखा कि एक मज़दूर सिर पर लकड़ी का गट्ठा लिये नदी पार कर रहा है। मज़दूर की चाल-ढाल आदि से राजा भोज न जाने कैसे समझ गये कि यह कोई साधारण मज़दूर नहीं बल्कि कोई विद्वान् जान पड़ता है। उन्होंने सोचा—जैसे बादल या राहु में चन्द्रमा छिपा रहता है, उसी प्रकार मज़दूर के भेष में यह विद्वान् छिपा हुआ है।

भोज में प्रजाहित की लगन बड़ी तीव्र थी। राजा मज़दूर के पास पहुँचा। उसने देखा कि मज़दूर की दृष्टि नीची ही है। उसने मेरी ओर देखा तक नहीं! राजा सोचने लगा—जान पड़ता है यह आदमी इन्द्रियों को दमन करने वाला है। यह मेरे बोले बिना बोलेगा भी नहीं। मुझे स्वयं बात आरंभ करनी चाहिए। भोज के जमाने में संस्कृतभाषा का अच्छा प्रचार था। भोज स्वयं संस्कृतभाषा का उच्चश्रेणी का ज्ञाता था। अतएव उसने पद्यमय संस्कृत भाषा में प्रश्न किया—

कियन्मात्रं जलं विप्र !

यद्यपि जल की गहराई साफ मालूम हो रही थी, फिर भी राजा ने मज़दूर की परीक्षा करने के लिए प्रश्न किया—'नदी में कितना जल है?'

मज़दूर ने राजा की ओर देखकर जान लिया कि राजा मेरी परीक्षा कर रहा है। यह सोच कर उसने भी पद्य में ही उत्तर दिया—

जानुदघ्नं नराधिप !

अर्थात्—हे राजन् ! जानु से नीचे यानी घुटनों तक है।

यह उत्तर सुनकर राजा समझ गया कि यह पुरुष विद्वान् है। अन्यथा पद्य में उत्तर कैसे देता ? राजा ने फिर सोचा—इसकी अधिक परीक्षा करना चाहिए और अधूरे श्लोक को पूरा भी कर लेना चाहिए। यह सोचकर उसने फिर प्रश्न किया—

कथं सेयमवस्था ते ?

अर्थात्—तुम्हारी यह दशा क्यों है ? राजा के इस प्रश्न के उत्तर में मज़दूर ने—जो जाति से ब्राह्मण था; कहा—

न हि सर्वे भवादृशाः ।

अर्थात्—सभी आप सरीखे नहीं हैं।

राजा सोचने लगा—इसका उत्तरदायित्व राजा होने के नाते मुझ पर आता है। इसका दुःख मिटाना मेरा कर्त्तव्य है। यह सोचकर राजा ने विद्वान् से कहा—'यह अपने सिर पर का लकड़ी का भारा नदी में फेंक दो।' राजा का यह कथन सुनकर वह सोच सकता था कि कौन जाने राजा कुछ देगा भी या नहीं ? कहीं ऐसा न हो कि मेरा गांठ का भारा भी चला जाय ! मगर उसने ऐसा नहीं सोचा। उसने यही विचार किया कि जब राजा भारा फेंकने को कहता है तो इसे फेंक देने में क्या हानि है ? कुछ न भी देगा तो न सही। मेरा एक भारा ही तो जायगा।

उसने लकड़ी का भारा नदी में फेंक दिया। यह देखकर राजा ने सोच लिया—यह त्यागी भी है और मेरे वचन पर श्रद्धा भी रखता है। इसके बाद राजा ने उससे कहा—तुम जाकर भंडारी से कहो कि महाराज ने मुझे एक हजार मोहरें देने के लिए कहा है। वह मोहरें मुझे दे दो।

राजा के यह कहने पर विद्वान् कह सकता था कि ऐसा कह देने मात्र से कौन हजार मोहरें निकाल कर दे देगा? आप किसी को साथ भेजिये या कुछ लिखकर दे दीजिये। मगर उसने ऐसा कुछ भी नहीं कहा। उसने सोचा—भंडारी देगा तो ठीक है, नहीं तो एक चक्कर ही सही! इससे ज्यादा और क्या बिगाड़ होना है। इस प्रकार सोचकर वह भंडारी के पास जाने को चल दिया। दरिद्र वेष में होने के कारण वह बड़ी कठिनाई से भंडारी के पास पहुँच सका। वहाँ पहुँचकर उसने कहा—महाराज ने हजार मोहरें देने के लिए कहा है। भंडारी ने उससे पूछा—तुमने ऐसा कौन-सा काम किया है? विद्वान् ने उत्तर दिया—और तो कुछ नहीं किया; महाराज के कहने से अपने सिर का भारा नदी में डाल दिया है।

भंडारी ने कहा—इतने से काम के लिए हजार मोहरें! कभी हजार मोहरें देखी भी हैं? सीधा-सामान के लिए कहा होता तो ठीक भी था। जाओ यहाँ से!

विद्वान् लौटकर राजा के पास गया। राजा तो पहले ही

जानता था कि इस प्रकार भंडारी हजार मोहरें नहीं देगा। वह तो केवल विद्वान् का धैर्य देखना चाहता था। फिर भी राजा ने पूछा-मोहरें मिल गईं ?

राजा के इस प्रश्न को सुनकर किसी दूसरे को क्रोध आ सकता था। मगर विद्वान् ने क्रोध नहीं किया। उसने कहा-

राजन् ! कनकधाराभ्यो भवान् सर्वत्र वर्षति ।
अभाग्यछत्र सांच्छिन्ने मयि नायान्ति बिन्दवः ॥

अर्थात्—हे राजन् ! आप तो सर्वत्र स्वर्णधार बरसाते हैं परन्तु मेरे सिर पर अभाग्य का जो छत्र लगा हुआ है उसके कारण मेरे ऊपर एक भी बूंद नहीं गिरता। दुर्भाग्य का छत्ता आड़ा आ रहा है।

इस कथन द्वारा ब्राह्मण ने राजा की उदारता की प्रशंसा भी कर दी और यह भी बतला दिया कि मुझे कुछ भी नहीं मिला है। राजा उसके कथन का आशय समझ गया उसने विद्वान् से कहा-अच्छा, तुम भंडारी के पास फिर जाओ। उससे कहो कि राजा ने कहा है कि दो हजार मोहरें दे दो।

ब्राह्मण कह सकता था कि भण्डारी ने एक हजार मोहरें तो दी नहीं, दो हजार वह कैसे दे देगा ? लेकिन उसने कुछ नहीं कहा और चुपचाप भण्डारी के पास चला गया।

भण्डारी ने उसे दोबारा आया देखकर कहा—तू फिर आ गया ! अब क्यों आया है ?

ब्राह्मण—महाराज ने आपको आज्ञा दी है कि आप मुझे दो हजार मोहरें दे दें।

भण्डारी—अरे भाई, तूने ऐसा क्या काम किया है?

ब्राह्मण—मैंने दूसरा कुछ काम तो नहीं किया, केवल राजा से यह कहा था कि आप तो बरसते हैं लेकिन मेरे सिर पर अभाग्य का छत्र है। वह छत्र एक भी बूंद मेरे ऊपर नहीं गिरने देता।

भण्डारी—जा, चल यहाँ से। इस तरह कहीं दो हजार मोहरें मिला करती हैं? इतना कहने के साथ ही भण्डारी ने सिपाहियों को आज्ञा दी कि इसे धक्के देकर बाहर निकाल दो।

सिपाहियों में दया कहाँ? उन्होंने अपनी आज्ञाकारिता फौरन दिखला दी। धक्के खा करके भी विद्वान् कुछ नहीं बोला। उसने सोचा—यह मार खाना भी व्यर्थ नहीं है। यह मार इन सिपाहियों की नहीं, राजा की है।

धक्के खाकर भी ब्राह्मण अपने घर नहीं गया। वह सीधा फिर राजा के पास पहुँचा। राजा ने फिर पूछा—मोहरें मिलीं? ब्राह्मण ने भण्डारी या सिपाहियों के विरुद्ध एक शब्द भी न कहते हुए यही कहा—

त्वयि वर्षति पर्जन्ये सर्वे पल्लविता द्रुमाः।
अस्माकं कर्मवृक्षाणां पूर्वपत्रेषु संचयः॥

अर्थात्—आप रूपी मेघ से तो मूसलधार वर्षा हो रही है। जिससे वृक्ष पल्लवित हो गये हैं, जो सूखे थे वे भी हरे हो गये हैं। लेकिन मेरा कर्मवृक्ष ही ऐसा है जिसके लिए यह वर्षा भी विपरीत फल देने वाली सिद्ध हुई। जैसे वर्षा होने पर दूसरे वृक्ष हरे-भरे हो जाते हैं किन्तु जवासा के पहले वाले पत्ते भी सूखकर गिर जाते हैं, इसी प्रकार आपकी वर्षा मेरे कर्मवृक्ष के भी पहले वाले पत्ते गिर गये हैं।

यद्यपि ब्राह्मण ने स्पष्ट नहीं कहा कि मुझे मोहरों के बदले मार खानी पड़ी है-मुझे मिला कुछ नहीं है। लेकिन उसके इस कथन से राजा समझ गया कि इसे कुछ नहीं मिला है यही नहीं वरन् अपमानित होना पड़ा है। यद्यपि ब्राह्मण में मस्तिष्क का भी बल था और हृदय का भी बल था किन्तु उसका मस्तिष्कबल, हृदयबल के अधीन था। इसी कारण ब्राह्मण ऐसी बात कह सका और इसी से वह इतना धैर्य रख सका। आप भी अपने मस्तिष्कबल को अपने हृदय-बल के अधीन रक्खें और बुद्धि को एकाग्र बनावें। गीता में कहा है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !

राजा ने अपने सामन्तों को आज्ञा दी कि तुम लोग इस विद्वान् के साथ जाओ और भंडारी से कहो कि इस ब्राह्मण को चार हजार मोहरें दे दे। इसे हैरान न करे। भंडारी से कह देना कि इस पण्डित की परीक्षा हुई थी। इसने धैर्य दिख-

लाया है। इसी के बदले इसे चार हजार मोहरें दी जा रही हैं।

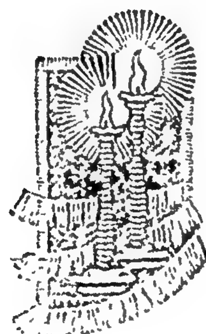
सामन्त विद्वान् को लेकर भण्डारी के पास गये। अब तो भण्डारी को मोहरें देनी ही पड़ेंगी। किन्तु धैर्य के बदले में विद्वान् को मोहरें मिल रही हैं—मुफ्त में नहीं। जो समय पर धैर्य रखते हैं और परीक्षा से घबराते नहीं हैं उन्हें अन्त में सफलता अवश्य प्राप्त होती है।

सामन्तों ने जाकर भण्डारी से कहा—इस विद्वान् पर महाराज बहुत प्रसन्न हैं। महाराज ने आज्ञा दी है कि इसे चार हजार मोहरें दे दी जायँ। तुम इसे व्यर्थ क्यों हैरान करते हो? महाराज इस विद्वान् पर प्रसन्न हैं, यह जानकर भण्डारी उसकी खुशामद करने लगा। उसने सोचा—कहीं ऐसा न हो कि यह महाराज से मेरी शिकायत कर दे। विद्वान् भंडारी का अभिप्राय समझ गया। उसने भंडारी को आश्वासन देते हुए कहा—तुम चिन्ता मत करो। तुमने मेरा अहित नहीं, हित ही किया है। मैं महाराज से तुम्हारे विरुद्ध कुछ नहीं कहूँगा। पहली बार तुम मोहरें दे देते तो तुम्हें उपालंभ मिलता कि बिना प्रमाण पाये मोहरें क्यों दे दीं? और मुझे भी चार हजार के बदले एक ही हजार मिलतीं। अतएव मैं तुम्हारे प्रति असन्तुष्ट नहीं हूँ। इस प्रकार भंडारी को संतुष्ट करके और चार हजार मोहरें लेकर विद्वान् पण्डित अपने घर चल दिये।

मतलब यह है कि किसी और के अवगुण न देखकर अपने ही अवगुणों को देखना चाहिए और आपत्ति के समय धैर्य रखना चाहिए। यह मत सोचो कि हमने धर्म किया मगर यह न हुआ, वह न हुआ आदि। विद्वान् ने राजा पर भरोसा रक्खा तो उसका हित ही हुआ। इसी प्रकार अगर आप शास्त्र और भगवान् पर विश्वास रक्खोगे तो क्या आपका हित नहीं होगा ? अतएव हृदय को मस्तिष्क के अधीन मत करो वरन् मस्तिष्क को हृदय के अधीन बनाओ और नम्रता धारण करके सहनशील बनो। ज्यों-ज्यों आपमें नम्रता आती जायगी त्यों-त्यों आपका अधिक कल्याण होगा। परमात्मा की पूजा का यही मार्ग है। कोई इस प्रकार की पूजा मन से करता है, कोई वचन से करता है, कोई काय से करता है और कोई मन वचन काय से करता है। कई लोग पूजा का अर्थ दूसरा करते हैं मगर भगवतीसूत्र में कहा है कि राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर की पूजा तीन तरह से की थी। जो मन से पूजा करता है वह अपने मन में दुर्गुण नहीं रहने देता। वह अपनी दैवी सम्पद् से पूजा करता है। गीता में दैवी सम्पद् का वर्णन करते हुए कहा है कि अहिंसा, सत्य आदि दैवी सम्पद् में हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हृदय का बल दैवी सम्पद् है और मस्तक का बल आसुरी सम्पद् है। अतएव तत्कालीन लाभ न देखते हुए हृदय के बल का विकास करने की आवश्यकता है। अदृश्य शक्ति महान्

शक्ति है। उस पर विश्वास रखकर दूसरे के कल्याण में अपना कल्याण मानो। धीरज रखो। दीन-हीन मत बनो। अपने आत्मबल को विकसित करो। ऐसा करने से आपको वह सम्पदा प्राप्त होगी, जिसके सामने तीन लोक की समस्त भौतिक सम्पदा नाचीज़ है, तुच्छ है। कल्याणमस्तु।*

मोरबी
३-८-३८



* महाराज मोरबीनरेश, महाराजा साहब और राजकुमार साहब की उपस्थिति में दिया गया व्याख्यान।

आत्मा और परमात्मा

श्रेयांस जिनन्द सुमर रे !

यह भगवान् श्रेयांसनाथ की प्रार्थना है। आत्मा को परमात्मा के सन्मुख करने के लिए इस प्रार्थना में प्रबल प्रेरणा करते हुए कहा गया है कि-हे आत्मन् ! तू सो क्या रहा है ! अरे तू किस मोह में पड़ा है ! तू गफ़लत में मत रह। परमात्मा का भजन कर।

प्रत्येक आस्तिक मत वाला परमात्मा का भजन करने में सहमत है। मगर परमात्मभजन के परिणाम के विषय में कुछ कुछ मतभेद भी पाया जाता है। उस मतभेद के कारण अनेक विवादग्रस्त प्रश्न सामने आते हैं। उन सब प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विचार करने और उनका निराकरण करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है। अतएव इस संबंध में अधिक न कहकर संक्षेप में ही विचार किया जायगा।

कई लोगों की यह कल्पना है कि संसार में राजा और प्रजा का जो स्थान है वही परमात्मा और आत्मा का स्थान

है। प्रजा, राजा की भक्ति और उपासना करके भी प्रजा ही रहेगी, वह स्वयं राजा नहीं बन सकती। इस प्रकार प्रजा प्रजा ही रहती है और राजा राजा ही रहता है। दोनों में जो भिन्नता है वह मिट नहीं सकती। परमात्मा राजा की तरह है और आत्मा प्रजा की तरह है। आत्मा, परमात्मा का कितना ही भजन क्यों न करे, वह परमात्मा बनने में सर्वदा और सर्वथा असमर्थ है। दोनों का एक रूप होना संभव नहीं। इस विचार से प्रेरित होकर कुछ दर्शनकारों ने ईश्वर को आत्मा की कोटि से अलग ही रक्खा है। उनका कहना यह है कि जिस प्रकार प्रजा राजा को भजती है, उसी प्रकार जगत् के जीवों को परमात्मा का भजन करना चाहिए। लेकिन राजा का भजन करने वाली प्रजा, प्रजा ही रहेगी और जिसका भजन किया जाता है वह राजा ही रहेगा, उसी प्रकार परमात्मा परमात्मा ही रहेगा और आत्मा आत्मा ही रहेगी।

गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय और परमात्मा एवं आत्मा के असली स्वाभाविक गुणों पर ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि यह मान्यता वास्तविक नहीं है। आत्मा का स्वरूप चेतना अर्थात ज्ञान-दर्शन है। परमात्मा भी चेतन-स्वरूप है। परमात्मा 'सच्चिदानन्द' कहलाता है। इस 'सच्चिदानन्द' पद में तीन गुणों का समावेश होता है—(१) सत्ता (२) चैतन्य और (३) सुख। इन तीनों गुणों में एक भी ऐसा नहीं है जो आत्मा में मौजूद न हो। जब आत्मा है तो

उसमें सत्ता माननी ही पड़ेगी। आत्मा का चैतन्य गुण अनुभव से सिद्ध है। अगर आत्मा में चैतन्य गुण स्वीकार न किया जाय तो वह जड़ पदार्थ वन जायगी। फिर उसे जो संवेदन होता है वह कैसे हो सकेगा ? इसी प्रकार 'आनन्द' गुण भी आत्मा में स्वाभाविक रूप से मौजूद है। आनन्द गुण आत्मा में न होता तो उसे सुख की प्रतीति कैसे होती ?

इस प्रकार हम देखते हैं—अनुभव करते हैं कि परमात्मा के सभी गुण प्रत्येक आत्मा में स्वभावतः विद्यमान हैं। जब दोनों में समान गुण हैं तो दोनों को मूलतः पृथक् कैसे किया जा सकता है ? एक वस्तु से दूसरी वस्तु की भिन्नता गुणों में भेद होने के कारण ही होती है। जैसे जड़ और आत्मा के गुणों में भेद है, अतः इन दोनों को भिन्न-भिन्न मानना पड़ता है। लेकिन आत्मा और परमात्मा के गुणों में ऐसा कोई अन्तर नहीं है। ऐसी स्थिति में दोनों में मौलिक भेद नहीं हो सकता।

आत्मा और परमात्मा में अगर जड़ और आत्मा की तरह मौलिक भेद होता तो परमात्मा, आत्मा के लिए आराध्य नहीं होता। जब आत्मा स्वयं परमात्मा बन ही नहीं सकता तो फिर परमात्मा का आदर्श आत्मा को अपने सामने रखने की आवश्यकता ही क्या है ? तब तो परमात्मा का रास्ता जुदा और आत्मा का रास्ता जुदा होता।

कहा जा सकता है कि अगर आत्मा और परमात्मा के गुण समान हैं और दोनों एक ही कोटि में हैं तो फिर दोनों में

अन्तर नहीं होना चाहिए। फिर परमात्मा आराध्य और आत्मा आराधक क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर मैं अपने अनेक व्याख्यानों में दे चुका हूँ। यहाँ भी संक्षेप में कहता हूँ। बात वास्तव में यह है कि आत्मा और परमात्मा के गुणों में मूलतः कोई अन्तर न होने पर भी दोनों के गुणों के विकास में अंतर है। परमात्मा वह है जिसके समस्त स्वाभाविक गुण अपनी पूर्णता पर पहुँच गये हैं और आत्मा के गुण कर्म-विकारों से आच्छादित हैं। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा में वास्तविक अन्तर न होने पर भी उपाधि के कारण अन्तर है। यह अंतर अस्वाभाविक है, इसीलिए मिटाया जा सकता है और इसी को मिटाने के लिए परमात्मा की उपासना, जप, स्वाध्याय, संयम आदि का आचरण किया जाता है। जिस प्रकार परम-आत्मा उपाधिरहित है उसी प्रकार जीव भी उपाधिरहित होने पर परमात्मा बन सकता है। भंवरी एक सामान्य जीव है। उसकी संगति से लट कीड़ा भी भंवरी बन जाता है और इसमें भंवरी को कोई ऐतराज़ नहीं होता है। ऐसी स्थिति में परम-आत्मा का भजन करने पर परमात्मा बन जाना क्या असंभव है ! ऐसा होने में परमात्मा को किसी प्रकार का ऐतराज़ नहीं हो सकता। ईश्वर को ऐतराज़ होने का कोई कारण नहीं है। अतएव सर्वथा द्वैतवाद के कथनानुसार जीव सदा जीव ही नहीं रहता है किन्तु उपाधिरहित होते ही जीव परमात्मा बन जाता है।

अलबत्ता, परमात्मा बनने के लक्ष्य को सभी जीव एकदम प्राप्त नहीं कर सकते। कोई-कोई महापुरुष ही ऐसा कर सकते हैं। लेकिन लक्ष्य तो सब का वही होना चाहिए। लक्ष्य एक ही होने पर भी सिद्धि तो किसी-किसी को ही प्राप्त होती है। सब को सिद्धि प्राप्त न होने पर भी लक्ष्य को भुकाया नहीं जा सकता। आदर्श को गिराया नहीं जा सकता। अगर आदर्श को गिरा दिया जायगा तो अनेक खराबियाँ उत्पन्न होंगी। उदाहरणार्थ-लड़के जब पढ़ने के लिए पाठशाला में जाते हैं तब उनके सामने अक्षर बनाने के लिए जो लिपि पुस्तक रक्खी जाती है, उसके अनुसार सभी अक्षर नहीं बना सकते। वैसे अक्षर तो कोई-कोई ही बना सकता है। लेकिन इसी कारण क्या अक्षरों का आदर्श घटाया जाता है? जिस प्रकार अक्षरों का आदर्श नहीं घटाया जाता, उसी प्रकार परमात्मा बनने का आदर्श भी नहीं घटाया जा सकता। अतएव आदर्श को अपने सामने रखकर परमात्मा बनने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न करने पर कभी न कभी सिद्धि होगी ही। कहा भी है—

अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्।

इस बात को ध्यान में रखकर प्रयत्न करते जाना चाहिए जिससे आत्मा कभी परमात्मा बन सके। प्रयत्न किस प्रकार करते रहना चाहिए और भावना कैसी रखनी चाहिए, इस

बात को समझाने के लिए एक आदर्श आपके सामने रखता हूँ। युवराज* को तो इस आदर्श पर खास तौर से विचार करना चाहिए, क्योंकि यह आदर्श क्षत्रियों का है और युवराज भी क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय शब्द का अर्थ इस प्रकार किया जाता है—

क्षतात्-नाशात् त्रायते-इति क्षत्रः, तदस्यास्तीति क्षत्रियः।

जो विपत्ति में पड़ नष्ट हो रहे हैं, उनकी रक्षा करना क्षात्रधर्म है और जो इस धर्म को धारण करता है उसे क्षत्रिय कहते हैं। क्षत्रिय में वीरता होती है। वीरता के तीन प्रकार हैं—(१) रजोगुणी वीरता (२) सतोगुणी वीरता और (३) तमोगुणी वीरता। कई लोगों का कहना है कि शराब पीने से वीरता आती है, मगर इस तरह आई हुई वीरता तमोगुणी वीरता है। कइयों का कहना है कि हथियार तो रखना ही चाहिए। जो हथियार न रक्खे वह कैसा वीर ! किन्तु हथियार के सहारे जो वीरता होती है वह रजोगुणी वीरता है। ज्ञानी कहते हैं कि सतोगुणी वीरता इन दोनों वीरताओं से बढ़कर है। सतोगुणी वीरता के सामने रजोगुणी और तमोगुणी वीरता तुच्छ है। बिजली से भी प्रकाश होता है और दीपक भी प्रकाश करता है, लेकिन सूर्य के प्रकाश की बराबरी कोई भी प्रकाश नहीं कर सकता। इसी प्रकार

* मोरवी के महाराजकुमार इस व्याख्यान में उपस्थित थे।

जगत् में रजोगुणी और तमोगुणी वीरता का सन्मान भले ही किया जाय लेकिन सतोगुणमय वीरता की बराबरी यह दोनों वीरताएँ नहीं कर सकतीं।

कल मैं ने मस्तिष्क और हृदय के बल के विषय में कहा था। मस्तिष्क का बल, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो, हृदयबल का मुकाबला नहीं कर सकता। मस्तिष्क के बल वाले ऐसे भी हो सकते हैं जो जल को थल और थल को जल भाग के रूप में पलट दें, लेकिन हृदय-बल के बिना क्षण भर भी जगत् का काम नहीं चल सकता। माता में हृदयबल न होता तो मस्तिष्क के बल वाले व्यक्ति का जन्म ही कैसे होता? उसका पालन-पोषण कौन करता? अतएव स्पष्ट है कि जगत् के लिए मस्तिष्कबल की अपेक्षा हृदय-बल की अधिक आवश्यकता है। मेरे कहने का आशय यह नहीं है कि संसार में मस्तिष्कबल की आवश्यकता ही नहीं है। मैं यह कहता हूँ कि मस्तिष्क के बल को हृदय के बल के अधीन रहना चाहिए। जैसे माता, पुत्र को अपने अधीन रखकर उसकी उन्नति करती है उसी प्रकार मस्तिष्क बल को हृदय-बल के अधीन रखकर विकसित करना चाहिए। माता यह कदापि नहीं चाहती कि मेरे पुत्र की उन्नति न हो। वह उन्नति चाहती है और इसीलिए शिक्षा दिलवाती है, मगर रखना चाहती है अपनी अधीनता में। वह अपने बालक का निरंकुश होना पसंद नहीं करती। यह बात अलग है कि आज की शिक्षा का ढंग बदला

हुआ है और माताएँ भी इसी ढँग से प्रभावित होकर ऐसी ही शिक्षा दिलवाती हैं, लेकिन जो कुछ भी वे करती हैं, पुत्र की हित-कामना से प्रेरित होकर ही करती हैं। फिर भी माता अपने नियंत्रण में ही अपने पुत्र को रखना चाहती है। इसी प्रकार मस्तिष्कबल को विकसित तो करना चाहिए लेकिन हृदयबल की अधीनता में ही। उस पर सदैव हृदयबल का नियंत्रण रहना चाहिए।

प्रवचन-माता का आपके लिए यह आदेश है कि मस्तिष्क के बल को हृदयबल के नियंत्रण में रक्खो। हृदयबल वाले में कैसी उदारता होती है और हृदयबल के होने पर क्या होता है, यह समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। यह उदाहरण जगत्-मान्य है। रामचन्द्र को कौन नहीं जानता ? उन्हीं का उदाहरण लीजिए:—

रामचन्द्र जब योग्य अवस्था के हो गये तो प्रजा उनका राज्याभिषेक देखने के लिए लालायित हो उठी। लोग सोचने लगे—महाराज इन्हें राज्यसत्ता क्यों नहीं देते ? इस तरह की बातें नगर में हो रही थीं कि इतने में ही एक बात हो गई। महाराज दशरथ को अपने सिर पर सफेद बाल नज़र आ गया और वह भी कान के पास। बाल सफेद देखकर दशरथ सोचने लगे—यह बाल क्या संदेश दे रहा है ? यह बाल मानों कह रहा है कि—राजा, राजपाट छोड़कर भगवान् का

भजन करो। अब संसार की प्रवृत्तियों से निवृत्ति लो। यदि तुम निवृत्ति न लोगे तो दूसरे लोग भी यही सोचेंगे कि संसार में कोई आनन्द है; तभी तो राजा से संसार नहीं छोड़ा जाता! और इसी कारण राम के योग्य हो जाने पर भी राजपाट उन्हें नहीं सौंपते हैं!

आप लोग अपनी संतान के सामने क्या आदर्श उपस्थित करते हैं? अगर आप संतान के सामने त्याग का आदर्श रक्खेंगे तो संतान भी त्यागशील बनेगी। इसके विपरीत अगर आप स्वयं संसार को ज्यादा पकड़े रहे तो संतान का ज्यादा पकड़ना स्वाभाविक ही है।

सफ़ेद बाल को निवृत्ति के लिए सूचना रूप मानकर राजा दशरथ ने सवेरे ही अपने सलाहकारों को एकत्र किया और कहा—यह सफेद बाल मुझे निवृत्त होने की सूचना दे रहा है। अतएव मैं चाहता हूँ कि अगर आप लोग सहमत हों तो कल ही राम को राज्य सौंपकर राज्य-काज से निवृत्त हो जाऊँ।

राजा ने जो कुछ कहा, वह किसे नापसंद हो सकता था? सभी चाहते थे कि राम राजा हों। लोगों के मनोरथ रूपी बेल के लिए राजा का कथन आधारस्वरूप हो गया। सब ने एक स्वर से राजा की बात का समर्थन किया। राजा ने राज्याभिषेक की तैयारी करने का आदेश दे दिया और अगला दिन अभिषेक के लिए नियत कर दिया।

पहले के ज़माने में, राज्याभिषेक या विवाह आदि के अवसरों पर आजकल की तरह आडम्बर नहीं होता था। अतएव तैयारी में अधिक समय भी नहीं लगता था। प्रायः एक ही दिन में सारा काम निपटा दिया जाता था। इसी कारण राजा दशरथ ने कहा कि सब तैयारी कर ली जाय और कल सबेरे ही राम को राज्य दे दिया जाय। इधर सूर्य निकलेगा, उधर रामचन्द्र राजसिंहासन पर बैठेंगे।

रामचन्द्र के राज्याभिषेक का समाचार सारे नगर में फैल गया। रामचन्द्र के मित्र इस समाचार से फूले न समाये। कोई सोचने लगे—अब हमारी पाँचों उंगलियाँ घी में हैं। कोई कहने लगा—हमारी सात पीढ़ियों की दरिद्रता अब दूर हो जायगी। स्वार्थी लोग ऐसे-ऐसे कारणों से ही बड़ों के साथ मित्रता रखते हैं। राम के ऐसे मित्र सोचने लगे—मैं सब से पहले पहुँच कर बधाई दूँ तो मेरी विशेषता है!

इस प्रकार सोचकर वे राम के पास पहुँचे। उस समय राम किसी गंभीर चिन्ता में डूबे थे। वे अपने कर्त्तव्य के विषय में विचार कर रहे थे। वे सोच रहे थे कि आखिर मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? मैं राजसिंहासन को अलंकृत करूँ या जनता की सेवा करूँ? राजसत्ता द्वारा जनता का कोई विशेष उपकार नहीं हो सकता। जनसाधारण के उपकार के लिए योग्यता अपेक्षित है। लेकिन मुझे कौन-से मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए?

रामचन्द्र जब विचारों की तरंगों में बहते-बहते स्थिर न हो पाये तो उन्हें सीता का ध्यान आया। सीता से कहने लगे-सीता, तुम मेरी धर्मपत्नी हो और राज्य करते हुए भी आध्यात्मिक ज्ञान रखने वाले महाराज जनक की पुत्री हो। अतएव मैं तुमसे परामर्श चाहता हूं। कहो मेरे जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए?

सीता के बदले दूसरी कोई होती तो चटपट उत्तर देती-'प्राणनाथ, राजा बन कर आनन्द भोगो और मेरे लिए ऐसे-ऐसे जेवर बनवा दो!' लेकिन सीता तो सीता ही थी। उसने नम्रतापूर्वक कहा-स्वामिन्, मैं आपकी दासी हूँ। मैं आपके संबंध में क्या कह सकती हूँ? फिर भी इतना निवेदन अवश्य करूँगी कि आप जैसे असाधारण पुरुष के द्वारा कोई असाधारण-अलौकिक कार्य होना ही चाहिए, जिससे आपके आदर्श को सन्मुख रखने से जनता का कल्याणमार्ग सरल हो जाय। जगत् में इस समय अधर्म फैला हुआ है। जनता में धर्म जागृति उत्पन्न करने योग्य कोई कार्य हो तो अच्छा है।

राम ने अपने जीवन का ध्येय निश्चित करने के लिए सीता से सलाह ली थी। क्या आप भी कभी अपनी पत्नी से इस प्रकार सलाह लिया करते हैं? अगर आपके विचार राम के समान उदार हों और आपकी पत्नी सीता के समान आपकी सहायिका बने तो इस संसार में सीता और राम के अनेक जोड़े दृष्टिगोचर होने लगें।

सीता का विचार सुन लेने के पश्चात् राम ने लक्ष्मण के सामने भी यही समस्या उपस्थित की। लक्ष्मण बोले—मैं और कुछ नहीं जानता, सिर्फ आपकी आज्ञा जानना चाहता हूँ। आपको सलाह देने की योग्यता मुझमें नहीं है। फिर भी आपने पूछा है तो यह निवेदन करना चाहता हूँ कि सांसारिक प्रवृत्तियों में तो सभी फँसे रहते हैं। आपके द्वारा कोई प्रधान कार्य ही होना योग्य है। आपके हाथों जगत्कल्याण का कार्य न हुआ तो फिर किसके हाथ से होगा ?

इस प्रकार सीता और लक्ष्मण की सम्मति लेकर रामचंद्र ने निश्चय किया कि कल पिताजी से निवेदन कर देना चाहिए कि मैं निवृत्ति में ही रहना चाहता हूँ मैं राज्य संबंधी झंझटों में नहीं फँसना चाहता।

इधर राम ने यह सोचा और उधर उनके मित्र आ धमके। मित्रों ने उन्हें प्रसन्नता के साथ बधाई दी। रामचंद्र ने बधाई के उत्तर में कहा—मैं राज्यपद ग्रहण नहीं करना चाहता। मेरी इच्छा योगपद प्राप्त करने की है। राज्य सँभालने के लिए तो मेरे दूसरे भाई हैं ही। मैं राज्य लेकर क्या करूँगा ? आश्चर्य है कि दूसरे भाइयों के होते हुए पिताजी ने मुझे राज्य देने का विचार क्यों किया ?

> विमल वंश यह अनुचित एकू।
>
> बन्धु विहाय बड़ेहि अभिषेकू॥

इस निर्मल वंश के लिए एक मात्र कलंक की बात यही है कि छोटे भाइयों के होते हुए भी बड़े को राज्य दिया जाता है। राज्य तो छोटे को दिया जाना चाहिए।

राम का यह विचार क्या आपको पसंद आता है? चाहे आप पसंद करें या न करें, मगर धर्म का मार्ग त्याग और उदारता ही है। कहा भी है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अर्थात्-जगत् में फँसे हुए लोग जिसे अन्धकार कहते हैं; ज्ञानी जन उसे प्रकाश कहते हैं और जगत् के लोग जिसे प्रकाश मानते हैं, योगी उसे अन्धकार समझते हैं।

इस प्रकार सर्वसाधारण में और ज्ञानियों में भेद है। जब तक मस्तिष्क में और हृदय में भिन्नता रहेगी तब तक ज्ञानियों में और आप में भिन्नता रहना स्वाभाविक है। जब आप मस्तिष्क को हृदय के अधीन कर लेंगे तो बहुतेरे विवाद स्वतः शान्त हो जाएँगे।

राम का कथन सुन कर उनके मित्र सोचने लगे-यह अद्भुत बात है। राज्य के अधिकारी आप हैं। छोटे भाई राज्य कैसे पा सकते हैं?

राम ने कहा—यह ठीक है कि मैं बड़ा हूँ और इसी कारण

यह भी ठीक है कि राज्य मुझे नहीं मिलना चाहिए। बड़प्पन लेने में नहीं, देने में है।

राम के कुछ मित्रों ने समझा, राम में आज पागलपन आ गया है! इनसे भविष्य में क्या आशा की जा सकती है! अतएव वे निराश हो कर धीरे-धीरे खिसक गये। कुछ सरल-हृदय मित्र बैठे रहे। उन्होंने कहा-आपके विचार अतिशय उदात्त हैं। मानवीय बुद्धि जिस ऊँचाई पर पहुँच नहीं सकती उस पर आप अनायास ही जा पहुँचे हैं। निस्सन्देह आप असाधारण पुरुष हैं और आपके द्वारा जगत् का महान् कल्याण होगा।

राम ने कहा—मुझे प्रसन्नता है कि मेरे विचार आपकी समझ में सही हैं। देखना तो यह है कि मेरे विचार क्रियान्वित होंगे या नहीं!

प्रातःकाल होने पर रामचन्द्रजी प्रतिदिन की भांति पिता को प्रणाम करने गये। वहाँ देखा कि सारा मामला ही बदल गया है। रानी कैकेयी ने किस प्रकार वरदान मांगा, यह बात प्रसिद्ध है। * महाराज दशरथ को इस मांग के कारण ऐसा धक्का लगा कि वे बेहोश हो गये। उसी समय रामचन्द्र वहां पहुँचे। पिता को मूर्छित देख राम सोचने लगे—

* विस्तार के लिए देखो जवाहरकिरणावली भाग १७-१८-रामवनगमन प्रथम और द्वितीय भाग।

मेरे होते हुए पिता को किसी प्रकार का कष्ट होना मेरे लिए कलंक की बात है। यह सोच कर उन्होंने पिता को आवाज दी। आवाज सुन कर दशरथ ने आंखें खोलीं और राम को देख कर फिर बन्द कर लीं। राम ने सोचा-पिताजी को कोई बड़ा आघात लगा जान पड़ता है। उन्होंने अपनी दृष्टि पीछे फेरी तो वहाँ कैकेयी बैठी दिखाई दी। राम ने उसे प्रणाम किया। वह बोले—माता, मैंने अभी तक आपको देखा नहीं था और इसी कारण प्रणाम नहीं किया मेरी भूल के लिए क्षमा कीजिए। मैं यह जानना चाहता हूँ कि पिताजी आज दुखी क्यों हैं ?

राम का कथन सुन कर कैकेयी ने रुखाई के साथ कहा-राम, तुम मिष्टभाषी हो और तुम्हीं क्यों, तुम्हारे पिता और तुम्हारी माता ने भी मीठा बोलना खूब सीखा है। परन्तु मैं अब मीठी बोली के भुलावे में आने वाली नहीं हूँ।

यह अप्रत्याशित उत्तर सुन कर राम को बहुत दुःख हुआ। वह कहने लगे-माताजी, आपने किस आशय से यह बात कही है ? मैं अपना अनिष्ट करने वाले के प्रति भी कटुक भाषण नहीं कर सकता। फिर आप तो मेरी माता हैं। आपसे कटुक बात कैसे कह सकता हूँ ? आपके कहने से मालूम होता है कि आपके सामने मेरा मीठा बोलना आपको भुलावे में डालना है। मगर ऐसा समझना भ्रम है। आप

किसी भी समय मेरी परीक्षा करके देख लीजिये कि क्या मैं आपको भुलावे में डालने के लिए मीठा बोल रहा हूँ ?

कैकेयी ने कहा—अच्छा, तुम बताओ कि महाराज ने मुझे जो वर दिया था उसे मांगने का मुझे अधिकार है या नहीं ? और मैं अपनी इच्छा के अनुसार वर मांग सकती हूँ या नहीं ?

राम—हाँ, आपको वर माँगने का अधिकार है और आप अपनी इच्छा के अनुसार ही वर माँग सकती हैं।

कैकेयी—मेरे वर माँगने के कारण ही महाराज मूर्छित हो गये हैं। तुम पूछ लो कि इन्होंने मुझे वर माँगने के लिए कहा था या नहीं ? और इनके कहने से ही मैंने वर मांगा है या नहीं ? जब इनके कहने से ही वर मांगा है तो मैं कोई तुच्छ चीज़ तो क्या माँगती ? मैंने भरत के लिए राज्य मांगा है। लेकिन महाराज भरत को शायद इस योग्य नहीं समझते। संभव है, कोई दूसरा कारण भी हो। इसी से महाराज मूर्छित हो गये हैं। मैंने यह भी कह दिया कि आप कह दीजिए—मैंने धर्म छोड़ा। पर वे ऐसा भी नहीं कहते और दुःख मान रहे हैं।

कैकेयी का यह स्पष्टीकरण सुनकर राम प्रसन्न हुए। वह सोचने लगे—किसी अदृश्य शक्ति के प्रभाव से ही माता ने यह वर माँगा है। इसकी पूर्ति होने से मेरा यह समय सफल

ही पूरा हो जायगा, जिसके संबंध में मैंने कल निश्चय किया था।

अदृश्य शक्ति किस प्रकार अपना काम करती है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। आप यहाँ बैठे हैं। आपके लिए घर पर क्या भोजन बन रहा है, आपको पता नहीं है। फिर भी उस भोजन के बनने में आपकी अदृश्य शक्ति काम कर रही है। अतएव अदृश्य शक्ति पर भी विश्वास रखना चाहिए।

कैकेयी का कथन सुनकर राम ने कहा—

सुन जननी सोइ सुत बड़भागी, जो पितु मातु चरण-अनुरागी।
तनय मात-पितु पोषनहारा, दुर्लभ जननि यही संसारा॥
भरत प्राणप्रिय पावहिं राजू, विधि सब विधि सन्मुख मोहिं आजू।
जो न जाउँ बन ऐसे हु काजा, प्रथम गनिय मोहिं मूढ़ समाजा॥

राम कहते हैं—माता, यह वर माँग कर आपने मुझे भाग्यशाली बनाने का प्रयत्न किया है। माता कौशल्या ने तो मुझे जन्म ही दिया है, लेकिन आप मेरा उत्थान कर रही हैं। माता-पिता की आज्ञा का पालन करना पुत्र का धर्म है। जो ऐसा करते हैं वे अवश्य ही बड़भागी हैं। फिर आपकी यह आज्ञा तो मेरी इच्छा के अनुकूल ही है।

क्या आजकल के लड़के भी माता-पिता के वचन का पालन करने का ध्यान रखते हैं? उचित तो यही है कि माता-पिता अपना धर्म पालें और पुत्र अपने धर्म का पालन करे

कदाचित् माता-पिता अपना धर्म छोड़ दें तो क्या इसी कारण पुत्र को भी अपना धर्म छोड़ देना चाहिए? एक ने अपना धर्म त्याग दिया है, यह देखकर दूसरे को अपना धर्म नहीं त्याग देना चाहिए। राम कहते हैं कि जो पुण्यवान् होगा वही माता-पिता की आज्ञा का पालन करेगा। क्योंकि माता-पिता का महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। जैन शास्त्रों में कहा है कि माता देव-गुरु के समान है। उपनिषदों में भी कहा है—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।

इस प्रकार जैनशास्त्र और उपनिषद् दोनों एक ही बात कहते हैं। बात कहने का ढंग तो अलग हो सकता है लेकिन सच्ची बात तो सभी स्वीकार करते हैं।

राम ने कैकेयी से कहा—माता, आपने जो कुछ किया है उसमें मेरा हित ही समाया हुआ है। कदाचित् आपके वर मांगने से मेरा अहित होता तो भी माता-पिता की आज्ञा का पालन करना ही मेरे लिए उचित होता। नीति कहती है—

आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।

जो अपने से बड़े हैं, उनकी आज्ञा अवश्य ही मानना चाहिए। फिर वह आज्ञा चाहे उचित हो चाहे अनुचित हो। गुरुजन की आज्ञा के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करने का हमें अधिकार नहीं है।

वह सेना कभी विजयी नहीं हो सकती जो बिना सोचे-समझे अपने सेनापति की आज्ञा का पालन नहीं करती। सेना को यह नहीं देखना चाहिए कि आज्ञा उचित है या नहीं ? उसका एक मात्र कर्त्तव्य आज्ञा का पालन करना है। खेद है कि आजकल हमारे देश में उच्च श्रेणी के अनुशासन की बहुत कमी है। अनुशासन के अभाव में कोई भी देश, समाज या वर्ग उन्नति नहीं कर सकता। अधिकारी का कर्त्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि को जागृत रक्खे और सोचे कि कहाँ कितने अनुशासन की आवश्यकता है; पर जिन्हें अनुशासन का पालन करना है उन्हें तो पालन करना ही चाहिए। पहले भारतवर्ष में यह माना जाता था कि जिन्हें हमने बड़ा माना है उनकी आज्ञा हमारे लिए पालनीय है।

राम कहते हैं—'माता, संसार में पुत्र तो बहुत होते हैं लेकिन माता-पिता की आज्ञा का पालन करने वाला पुत्र विरला ही होता है।'

इस प्रकार का पुत्र उन्हीं माता-पिता को प्राप्त होता है जिन्होंने पूर्व जन्म में अच्छा तप किया हो। पुण्य के उदय से ही धार्मिक पुत्र की प्राप्ति होती है। जो माता-पिता नीम के समान हैं वे आम के समान पुत्र कैसे पा सकते हैं ? आम सरीखा पुत्र पाने के लिए खुद को आम के समान बनना चाहिए।

सारांश यह है कि पुत्र को माता-पिता की आज्ञा पालनी ही चाहिए, क्योंकि उनका पुत्र पर महान् उपकार है। ठाणांगसूत्र में कहा है कि पिता, माता और धर्माचार्य के उपकार से उरिन होना कठिन है।

राम कैकेयी से कहते हैं—आपने मेरा हित ही किया है। एक बात मुझे अतिशय प्रसन्नता देने वाली है। वह यह है कि मेरे प्राणप्रिय भ्राता भरत को राज्य मिलेगा। मैं भरत के राज्य को सब प्रकार से निष्कंटक और प्रभावशाली बनाने के लिए अवध का त्याग करके प्रसन्नतापूर्वक वन-वास करूँगा। मैं ऐसे काम के लिए भी अगर वन न जाऊंगा तो परले सिरे का मूढ़ गिना जाऊँगा।

आज क्या छोटे के सुख के लिए बड़ा दुःख भोगता है? अगर कोई बड़ा हो कर भी छोटे के लिए दुःख नहीं भोगता तो वह बड़ा काहे का है! वह तो वैसा ही बड़ा है जैसे घोड़े का पूंछड़ा बड़ा होता है!

कैकेयी—राम, तुम्हारी बातों में मिठास तो बहुत है, मगर सच्चाई कितनी है, यह तो समय आने पर ही मालूम होगा।

राम—चिन्ता मत करो माँ, मैं अभी आपकी बातों की सच्चाई प्रकट कर दूँगा। आप थोड़ी देर के लिए अलग हो जाइए, जिससे मैं पिताजी को समझा सकूँ।

राम का कहना मानकर कैकेयी वहाँ से हट गई। राम ने

पिता को जागृत करके कहा-पिताजी, आप दुःख क्यों मना रहे हैं? माता के मन में जो भेदभाव आया है वह उत्पन्न तो आपने ही किया है। आपके लिए मैं और भरत उसी प्रकार समान हैं जिस प्रकार दोनों नेत्र समान हैं। लेकिन आपके चित्त में हम दोनों को लेकर भेदभाव उत्पन्न हुआ। इसी से आपने मुझे राज्य देने का विचार किया। आपके मन के भेद-भाव ने ही माता के मन में भेदभाव उत्पन्न किया है। खैर, जो हुआ सो अच्छा ही हुआ है, यह मानकर आप उठिये और चिन्ता न कीजिए। आपकी चिन्ता तो मेरे लिए ही है न? लेकिन जब मुझे ही चिन्ता नहीं है तो आपको चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है?

रेडियम धातु बहुत मूल्यवान् मानी जाती है। कहा जाता है कि उसकी एक कणी भी बहुत-से रोग मिटा सकती है। जिसकी एक कणी भी ऐसी है, उसका पहाड़ अगर किसी को मिल जाय तो कितनी प्रसन्नता की बात हो? राम का यह अनूठा चरित रेडियम के पहाड़ के समान है। अगर आप इस सारे पहाड़ को अपना सकें तब तो कहना ही क्या है! अगर यह संभव न हो और इसमें से एक कणी भी ग्रहण कर लें तब भी इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण हो सकता है। आपने राम-चरित में से थोड़ा-सा भी अंश ग्रहण किया है, इस बात की साक्षी यह है कि आप को किसी भी प्रकार के झगड़े के कारण कचहरी में न जाना पड़े और किसी भी रोग

के कारण अस्पताल में पैर न रखना पड़े। साथ ही जब आपके हृदय का मैल दूर हो जाय और आप तप-त्याग को अपनायें तभी यह जाना जा सकता है कि आपने राम के चरित्र से कोई शिक्षा ली है।

राम का कथन सुनकर दशरथ चकित रह गये। मन ही मन वह कहने लगे—राम के व्यक्तित्व की ऊँचाई का पता आज लगा! यह तो वन में जाने में भी कष्ट नहीं समझते! आज ही मुझे मालूम हुआ कि राम साधारण मनुष्य नहीं है।

राम माता-पिता आदि को समझाकर वन-वास के लिए चल दिये। रावण को जीत लेने के बाद वह अवध में लौटे। इस बीच राज्य का संचालन भरत करते रहे, मगर राम के दास बन कर। भरत अपने को राजा नहीं समझते थे किन्तु राम का दास मानकर, राम का स्मरण करते हुए, राम की ओर से राज्य का कार्य चलाते थे। राम ने आकर जब प्रजा की कुशल पूछी तो प्रजा कहने लगी—आपके वियोग का दुःख तो था ही, लेकिन जहाँ तक राज्यव्यवस्था का प्रश्न है, वहाँ तो भरत आपसे कुछ कम नहीं निकले। भरतजी ने आपका स्मरण करके राज्य चलाया है, अतएव राज्य की संपदा भी दुगुनी हो गई है और प्रजा भी सुखमान है।

मैं युवराज से कहता हूँ कि यह चरित्र आपके लिए विशेष रूप से उपयोगी है। इसे याद रखिए। राम के चरित्र को याद रखकर राज्य करने वाला पाप नहीं करेगा। अतएव सदा राम को स्मरण रखो और अपने धर्म का पालन करो। इसी में सब का कल्याण है।

विपत्ति बनाम सम्पत्ति



प्रणमूँ वासुपूज्य जिन नायक, सदा सहायक तू मेरा।

यह भगवान् वासुपूज्य की प्रार्थना है। इस प्रार्थना में प्रकट किये गये भावों को वही समझ सकता है जो पूरी तरह प्रार्थना करता है या जिसने प्रार्थना की हो। ऐसा ही व्यक्ति प्रार्थना के भावों के विषय में कुछ कह सकता है। प्रार्थना के संबंध में कहना बहुत चाहता हूँ मगर इतना समय कहाँ? अतएव संक्षेप में ही अपने विचार प्रदर्शित करता हूँ।

इस प्रार्थना में आत्मा की नोंध है। साथ ही इसमें यह भी बतलाया गया है कि आपके पास कौन-कौन-सी चीज़ें हैं? अर्थात् आपकी तिजारी में जो चीजें हैं, इस प्रार्थना में उनकी नोंध की गई है। आप अपनी चीजों को देखकर यह विश्वास कर सकते हैं कि यह नोंध कैसी सच्ची है। तिजोरी को संभालने पर इस नोंध की सचाई आपको स्वतः विदित हो जायगी।

इस प्रार्थना में कहा गया है कि संसार में प्रधानतः तीन प्रकार के दुःख हैं। फिर उनके अन्तर्गत अनेक दुःख हैं।

जैसे-रोग, चोर, आग, राजा या अन्य कारणों से उत्पन्न होने वाले दुःख नाना प्रकार के हैं। लोग भ्रमवश इन दुःखों को बाहर से आया हुआ मानते हैं; लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि वास्तव में इनका बीज आत्मा में ही विद्यमान रहता है। उसी बीज से दुःखों की उत्पत्ति होती है। दुःख बिना बुलाये कहीं से नहीं आते। अतएव दुःखों से घबराने की आवश्यकता नहीं है। उचित यह है कि आये हुए दुःखों से हम यथासंभव लाभ उठा लें।

किसी व्यापारी दुकानदार के यहाँ कोई ग्राहक आकर कटुक-कठोर भाषण करे, फिर भी दुकानदार को मालूम हो जाय कि इसके द्वारा मुझे कुछ लाभ होना सम्भव है, तो क्या दुकानदार उस ग्राहक पर क्रुद्ध होगा? क्या वह ग्राहक की बातों को चुपचाप सहन नहीं कर लेगा?- इसका एक मात्र कारण यही है कि व्यापारी उस ग्राहक के द्वारा अपना लाभ समझता है। इसी कारण व्यापारी अपने ग्राहक के साथ नम्रता का व्यवहार करता है। मुझे अपने बचपन का अनुभव है। भील लोग अशिक्षित होने के कारण कठोर बोलते हैं। और जो लोग समाज में बहुत प्रतिष्ठित हैं, श्रीमान हैं, उन्हें भी [illegible] 'तुम्हारा [illegible]' कहते हैं। फिर भी उनको यह बात खराब नहीं लगती। इसका कारण यह है कि श्रीमानों ने इन बातों से अपना

लाभ मान लिया है। अतएव इस प्रकार बोलने वाले ग्राहक को भी आदर के साथ बुलाया जाता है।

दुःखों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। अगर आप मान लें कि दुःख मेरा हित करने वाले हैं और यह दुःख मेरे बुलाने से ही आये हैं, तो फिर दुःख के कारण आपको किसी प्रकार की घबराहट नहीं होगी। यही नहीं बल्कि वे प्रिय जान पड़ेंगे।

कहा जा सकता है कि दुःखों को कोई नहीं बुलाना चाहता। दुःख तो बिना बुलाये आप ही गले पड़ जाते हैं। ऐसा कहने वालों ने गहरा विचार नहीं किया। अपथ्य का सेवन करने से रोग उत्पन्न होते हैं और रोग दुःख हैं। अगर कोई मनुष्य जान-बूझकर अपथ्य का सेवन करता है तो क्या वह दुःख को आमंत्रण नहीं देता? ऐसा मनुष्य किस मुँह से कह सकता है कि मैंने दुखों को बुलाया नहीं है? कुपथ्य का सेवन करने से जो बीमारी आई है वह बुलाने से ही आई है। इसी बात को जरा और आगे बढ़ाकर देखिए। आध्यात्मिक दृष्टि से जो दुःख के कारण हैं उनका सेवन करना क्या दुःख बुलाना नहीं है? काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि दुःख के कारण हैं। आसुरी प्रकृति को अपने अन्तःकरण में स्थान देना दुःख को निमंत्रण देना है। जब आत्मा काम-क्रोध आदि विकारों के अधीन हो तो सोचना चाहिए

कि मैं स्वयं दुःखों को आमंत्रित कर रहा हूँ। इस प्रकार जो भी दुःख आये हैं वे आत्मा द्वारा आमंत्रित होकर ही आये हैं। फिर उनके आने पर रोने की आवश्यकता क्या है ! जो आदमी पहले किसी को बुलाता है और जब वह आजाता है तो रोने बैठ जाता है उस आदमी को क्या कहा जायगा ? जो विपत्ति बुलाने पर ही आई है, उसके आने पर रोना क्यों ? जब विपत्ति बुला ली है और वह आ गई है तो रोने से कोई लाभ नहीं हो सकता। विपत्ति आने पर यही सोचना चाहिए कि इस विपत्ति को सम्पत्ति के रूप में परिणत कर देना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। इसी में मेरी भलाई है। जो पुरुष अपने ऊपर आये दुःख को सुख के रूप में परिणत कर देता है और उससे लाभ उठाता है, वह दुःखों पर विजयी होता है।

मैं जो कह रहा हूँ, उस पर आप विचार कीजिए। आपकी समझ में आ जाय और आपका हृदय उसे स्वीकार करे तो उसे अमल में लाइए। आपमें से बहुत-से लोग भक्ति से, वश होकर ही मेरी बात मान लेते हैं लेकिन कई लोग-जैसे शीतल साहब-तो परीक्षा करके ही मानने वाले हैं। भक्ति के अधीन होकर मेरी बात मानने वालों से भी मैं कहना चाहता हूँ कि आप लोग भी सिर्फ भक्ति के अधीन होकर ही मेरी बात न मानें, किन्तु यह सोचें कि जो मैं कह रहा हूँ उसमें सत्य है या नहीं ? अगर आपको मेरे कथन में सत्य प्रतीत हो तो आप उसे स्वीकार करें। हाँ, जब आपको पूर्ण विश्वास हो जाय कि मेरी

कही बात सत्य है तो उसका पालन करने के लिए आवश्यकता हो तो सर्वस्व समर्पण कर दो। जहाँ विश्वास हो जाता है वहाँ प्राण भी समर्पण कर दिये जाते हैं, तो फिर दूसरी वस्तुओं का तो कहना ही क्या है! भक्तों को परमात्मा पर विश्वास हो गया है, इसी कारण वे कहते हैं—

तन धन प्राण समर्पी प्रभु ने।
इन पर वेग रिझास्यां राज ॥
आज म्हारा संभव जिनजी रा।
हित चित्त से गुण गास्यां राज ॥

इस प्रकार विश्वास करके कुर्बानी के लिए तैयार रहना चाहिए।

प्रकृत में कहना यह है कि जो विपत्ति आती है वह आपकी बुलाई हुई ही आती है; इस तथ्य की नोंध इस प्रार्थना में की गई है और साथ ही यह बतलाया गया है कि जो विपत्ति तुम्हारी बुलाई हुई ही आई है, उसे सम्पत्ति बनाओ। विपत्ति को सम्पत्ति बना लेने का उपाय है विपत्ति से नहीं घबराना। किसी भी क्षण मत भूलो कि यह विपत्ति मेरी ही बुलाई हुई है। यह याद रखकर विपत्ति में भी प्रसन्न रहो। ऐसा करने पर आप विपत्ति को सम्पत्ति बना सकेंगे।

मैं जो बात कह रहा हूँ उसे शास्त्र का समर्थन प्राप्त है। शास्त्रानुसार जब सोमल ब्राह्मण ने गजसुकुमार मुनि के मस्तक

पर आग रख दी थी, उस समय क्या गजसुकुमार यह मानते थे कि सोमल ने यह आग रख दी है? नहीं। वे सोचते थे कि यह आग मेरे आकर्षण और आमंत्रण से आई है। अगर मैं भगवान् अरिष्टनेमि का सच्चा शिष्य हूँ तो इस विपत्ति को सम्पत्ति बना लेना मेरा कर्त्तव्य है। ऐसा करके ही मैं भगवान् का सच्चा शिष्य बन सकूँगा। इस प्रकार सोचकर उन्होंने सोमल को तनिक भी दोष नहीं दिया। अतः विपत्ति उनके लिए सम्पत्ति बन गई। उसी विपत्ति के द्वारा वे सिद्धि प्राप्त कर सके।

मित्रो! मैं कहता रहूँ और आप सुनते रहें, यह पर्याप्त नहीं है। जो सुना है उसकी सत्यता पर विश्वास जमाकर उसे अमल में लाना आवश्यक है। सुनते-सुनते तो बहुत दिन हो गये हैं। गजसुकुमार ने एक ही दिन उपदेश सुना था। उस दिन उपदेश सुनते ही वह विरक्त हो गये और दीक्षित हो गये। उन्होंने तत्काल भगवान् के उपदेश को क्रियारूप में परिणत कर लिया। उसी दिन उन्होंने विपत्ति को [illegible] भावना के विशिष्ट मंत्र द्वारा सम्पत्ति के रूप में [illegible] लिया और अपना परम उद्देश्य सफल कर लिया। [illegible] आपको सुनते-सुनते बहुत समय हो गया है। फिर [illegible] बहुत कष्टों को भी मधुर नहीं बना सकते [illegible] कि परमात्मा सदा सहायक है। [illegible]

विपत्ति को सम्पत्ति बना लेने की शक्ति होनी चाहिए और साथ ही परमात्मा पर विश्वास होना चाहिए।

विपत्ति को सम्पत्ति बनाने के लिए यह आवश्यक है कि विपत्ति आने पर उसे पीठ नहीं दिखानी चाहिए बल्कि आँख दिखानी चाहिए और उसका सामना करना चाहिए। मुझे संसार से निकलने का मार्ग दिखलाने वाले और मेरे परमोपकारी मुनि श्रीघासीरामजी महाराज ने अपनी संसारावस्था की एक घटना सुनाई थी। वह इस प्रकार है। उन्होंने कहा— जब मैं संसार में था तो एक बार जंगल में करौंदा खाने गया। वहाँ एक बाघ से भेंट हो गई। मैंने सुन रक्खा था कि बाघ की दृष्टि से अपनी दृष्टि मिला देने पर बाघ आक्रमण नहीं करता। मैंने ऐसा ही किया। कुछ देर तक तो बाघ मेरे सामने खड़ा रहा, लेकिन फिर छलांग मार कर चला गया। मैंने यह भी सुना था कि बाघ ललकारने पर सामने आता है। यह कथन कहाँ तक सत्य है, यह देखने के लिए मैंने एक बार बाघ को ललकारा। वह छलांग मारकर मेरे सामने आ गया। मेरे मन में तो हुआ कि अब बुरे फँसे! फिर भी हिम्मत की और पहले की तरह बाघ की दृष्टि से अपनी दृष्टि मिला दी। बाघ फिर कुछ देर खड़ा रहा और थोड़ी देर बाद चल दिया। मैंने मन में कहा—किसी तरह तू चला जा। अब मैं तुझे नहीं ललकारूँगा। बाघ गया और मैं अपने घर लौट आया।

इस प्रकार आँख बताने पर बाघ भी सामना नहीं करता और न आक्रमण करता है। इसके विपरीत पीठ दिखाने से वह फौरन आक्रमण कर देता है। ठीक इसी प्रकार विपत्ति तब तक विपत्ति है, जब तक इसे पीठ दिखाई जाती है। जब विपत्ति को आँख बताई जाती है अर्थात् दृढ़ता के साथ उसका सामना किया जाता है, तब वह विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है। अतएव विपत्ति के आने पर उससे घबराओ मत! उसे पीठ मत दिखाओ। उसका धैर्य के साथ, प्रसन्नतापूर्वक, हँसते हुए सामना करो। उसके साथ युद्ध करो। अहिंसा, धैर्य आदि की सात्त्विक शक्ति से उस पर आक्रमण करो। निश्चय समझो, ऐसा करने से वह विपत्ति भी आपके लिए सम्पत्ति बन जायगी।

रामचन्द्र पर भी विपत्ति आई थी, मगर जिस कुशलता, दृढ़ता और धैर्य के साथ उन्होंने उस विपत्ति को सम्पत्ति के रूप में पलट दिया, यह कौन नहीं जानता? उन्होंने ऐसा न किया होता और विपत्ति के आने पर रोने-धोने बैठ गये होते तो आज कौन उन्हें याद करता? जितने भी महापुरुष [illegible] हुए हैं, उन्हें महापुरुष बनाने वाली [illegible] विपत्ति ही है। विपत्ति के साथ संघर्ष करके [illegible] को विकसित किया और महापुरुष बन गये। [illegible] पुरुषों की [illegible] [illegible]

के कारण उनकी प्रशंसा करते हैं, उन्हें अपने जीवन में लाने का प्रयत्न नहीं करते।

मान लो, एक सेठ अपने थाल में अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थ लेकर खाने बैठा है। सामने बैठा हुआ दूसरा आदमी थाल के पदार्थ देखकर उनकी प्रशंसा करता है। कहता है-सेठजी, आपके थाल में बहुत बढ़िया पदार्थ हैं। ऐसे उत्तम पदार्थों को खाना तो दूर, मैंने देखा भी नहीं था। भोजन की इस प्रकार प्रशंसा सुनकर सेठ ने कहा—आओ भाई, आ जाओ। तुम भी भोजन कर लो। सेठ के यह कहने पर भी अगर वह आदमी भोजन नहीं करता तो उसे भाग्यहीन के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ?

इसी प्रकार लोग महावीर और राम आदि के वृत्तान्त सुनते हैं और प्रशंसा करते हैं। लेकिन जब उनसे उसी मार्ग को अपनाने के लिए कहा जाता है, जिसे उन्होंने अपनाया था तो अपनी उपेक्षा प्रकट करने लगते हैं। यह भाग्यहीनता नहीं तो क्या है ?

अतएव केवल बातें सुनने और दूसरों की प्रशंसा करने में ही मत रहो वरन् जो कुछ सुनते हो, जिसे हृदय से अच्छा और कल्याणकारी मानते हो, उसे क्रियात्मक रूप दो। ऐसा करने में अगर विपत्ति आड़ी आती हो तो उससे डरो मत। उसका वीरतापूर्वक सामना करो। उसे सम्पत्ति बनाकर

पढमं नाणं तओ दया



रे जीवा ! विमल जिनेश्वर सेविए !

यह भगवान् विमलनाथ की प्रार्थना है। मैं प्रायः प्रतिदिन प्रार्थना के विषय में अपने विचार प्रकट करता रहता हूँ। प्रार्थना का विषय मेरे लिए बहुत प्रिय हो गया है। इस विषय में थोड़ा-बहुत कहे बिना मुझे संतोष नहीं होता। प्रार्थना में मैं अपने जीवन का महान् कल्याण देखता हूँ और मानता हूँ कि आपका कल्याण भी इसी में छिपा है। अतएव आज भी कुछ शब्द परमात्मप्रार्थना के विषय में कहता हूँ।

आज व्याख्यान का स्थान बदल गया है। मोरबी-नरेश के धर्मप्रेम के कारण ही आज यहाँ व्याख्यान हो रहा है। मुझे तो नियत स्थान पर व्याख्यान देने में कोई कठिनाई नहीं थी, मगर आप सब का वहाँ समावेश नहीं हो सकता था। अतएव आपने इस स्थान की योजना की है। आज हम लोग जब विशिष्ट स्थान पर बैठे हैं तो किसी विशिष्ट विषय पर ही हमें विचार करना चाहिए। मगर पहले तो प्रार्थना के विषय में ही कुछ कहूँगा।

परमात्मा की प्रार्थना करने से क्या लाभ है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ज्ञानी जन कहते हैं—

तेरी बुध निर्मल हो जाय रे प्राणी !

अर्थात्—हे प्राणी ! अगर तू परमात्मा की प्रार्थना करेगा तो तेरी बुद्धि निर्मल हो जायगी । तात्पर्य यह है कि बुद्धि पर जो आवरण आ गया है वह परमात्मा की प्रार्थना करने से हट जाता है और इस प्रकार बुद्धि निर्मल बन जाती है ।

भक्त लोग अपनी आत्मा से कहते हैं—हे आत्मन् ! तुझे अपनी बुद्धि को निर्मल बनाने की आवश्यकता है । दूसरों को कहने-सुनने में मत रह किन्तु अपनी बुद्धि निर्मल बना । पहले अपने कपड़े और शरीर साफ किया जाता है । और फिर दूसरों से सफाई करने के लिए कहा जाता है । इससे विपरीत करने वाला बुद्धिमान् नहीं माना जाता । इसी प्रकार हे आत्मन्, पहले तू बुद्धि निर्मल बना और इसके लिए भगवान सुविधिनाथ की शरण में जा । बुद्धि को निर्मल बनाने का मार्ग भगवान सुविधिनाथ की सेवा करना है ।

भगवान सुविधिनाथ की सेवा करने से बुद्धि निर्मल होती है, यह कथन सुनते ही एक प्रश्न उपस्थित होता है कि सुविधिनाथ भगवान् की सेवा करने का स्वरूप क्या है ? किस प्रकार और किस प्रकार भगवान् की सेवा करनी चाहिए ? इस विषय में ज्ञानियो

का कथन है कि वस्तु को प्राप्त करने के दो ही मार्ग हैं-ज्ञान और दया। यह दोनों मार्ग भी एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं होने चाहिए। परस्पर सापेक्ष होकर ही दोनों कार्यसाधक होते हैं। अब हमें यह देखना चाहिए कि हम किस मार्ग पर चल रहे हैं और हमारा मार्ग सही है या उसमें किसी प्रकार की भूल हो रही है ?

जैन साधु दयालु होते हैं, यह बात प्रसिद्ध है। मगर कुछ लोग जैनों की दया पर यह आरोप करते हैं कि इस दया से जगत् का नाश हुआ है। लोगों का यह कथन कहाँ तक ठीक है ? और यदि ठीक नहीं है तो वे क्यों ऐसा आरोप करते हैं? इन प्रश्नों पर विचार करने के बदले में अभी इतना ही कहना चाहता हूँ कि आत्मा का हित परमात्मा की शरण में जाने से ही हो सकता है। किसी के साथ वैर-विरोध या लड़ाई-झगड़ा करने से आत्मा का हित नहीं हो सकता। इसलिए ऐसा आरोप करने वालों से लड़ाई न करके हम स्वयं परमात्मा की शरण में जाएँ और इस बात का विचार क्यों न करें कि आरोप करने वालों के हृदय में हमारे ऊपर आरोप करने का विचार क्यों उत्पन्न हुआ ? हमारी ओर से तो कोई ऐसा व्यवहार नहीं होता जिससे लोगों को इस प्रकार आरोप करने का अवसर मिलता हो ? और यह बात जानने के लिए हमें यह सोचना होगा कि हम परमात्मा की प्रार्थना किस प्रकार करते

है और वास्तव में किस प्रकार करनी चाहिए ? दशवैकालिक-सूत्र के चौथे अध्ययन में कहा है—

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही किं वा नाही सेयपावगं ॥

यह परमागम का वाक्य है । यहाँ पहले ज्ञान की आवश्यकता बतलाई गई है । आवश्यकता तो दया की भी है, मगर पहले ज्ञान की और फिर दया की आवश्यकता है । बिना ज्ञान की दया अंधी है और बिना दया का ज्ञान पंगु है । अंधे और पंगु की संसार में कद्र नहीं होती, सर्वांगपूर्ण की कद्र होती है । अतएव दोनों की ही आवश्यकता है । कहा है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया ।

ज्ञान और क्रिया एक दूसरे के अभाव में वृथा हैं-कार्यकारी नहीं हैं । इस प्रकार आवश्यकता दोनों की है मगर पहले ज्ञान की आवश्यकता है । अतएव अगर दया करनी है तो पहले ज्ञान प्राप्त करो । ज्ञान प्राप्त होने पर ही दया हो सकती है । अज्ञानी बिचारा क्या कर सकता है ? प्रत्येक कार्य को व्यवस्थित रूप में करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है । अतएव पहले ज्ञान प्राप्त करो । जिस कार्य का जो कारण है और जिस कारण से जो कार्य होता है, उसे कभी नहीं भूलना चाहिए । दया का कारण ज्ञान है, अतएव दया के लिए ज्ञान होना ही चाहिए ।

सिद्धान्त के इस वाक्य को सामने रखकर जब हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि हम लोग भूल कर रहे हैं। विचार करने पर आपको भी यही मालूम होगा। हम दया के लिए तो दौड़ते हैं मगर ज्ञान के लिए वैसा प्रयत्न नहीं करते। परिणाम यह होता है कि हमारी दया अंधी रहती है और इस अंधी दया के कारण ही लोग हमारे ऊपर या हमारी दया के ऊपर आक्षेप करते हैं। अगर हमें इस आक्षेप का निवारण करना है तो मैं कहता हूँ कि हम अपने क्रम पर विचार करें और दया करने के लिए पहले ज्ञान प्राप्त करें। दया के प्रति हमारे हृदय में बहुत अनुराग है-इतना अनुराग कि अगर दया के लिए कोई फंड होने लगे तो उसमें असहाय विधवाएँ भी कुछ न कुछ देने के लिए तैयार हो जाएँगी। इस प्रकार दया की तरफ तो हम लोगों की काफ़ी रुचि है, लेकिन ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि पहले ज्ञान की आवश्यकता है, जिससे दया की पहिचान की जा सके।

भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि दया कार्य है और ज्ञान कारण है। पहले कारण होता है और फिर कार्य होता है। कारण के विना कार्य नहीं होता। जब कारण होगा तभी कार्य हो सकेगा। अगर कोई आदमी कहने लगे कि सूत के विना ही कपड़ा बन गया है, तो क्या आप उसका कहना मानेंगे ? आप उसका कहना सच नहीं मानेंगे और यही कहेंगे कि ऐसा

नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जो सिर्फ कार्य पर ही विचार करता है और उसके कारण को भूलता है, वह बुद्धिमान नहीं है। यह बात तो स्त्रियाँ भी समझती हैं कि बिना आटे की रोटी नहीं बन सकती। अतएव यह सुनिश्चित है कि कार्य से पहले कारण को जुटाने का विचार करना चाहिए।

दया का कारण ज्ञान है। आपमें दया है लेकिन जब उसके कारण ज्ञान को आप विस्मृत कर देंगे तो स्वाभाविक है कि आपकी दया उपहासास्पद बन जाय। जब आपमें ज्ञान होगा और आप ज्ञानपूर्वक दया करेंगे तब कोई भी व्यक्ति आपकी दया के विषय में उंगली नहीं उठा सकेगा। आपकी दया पर आक्षेप करने का साहस किसी को नहीं होगा।

जब आप ज्ञान प्राप्त कर लेंगे और ज्ञानपूर्वक दया का आचरण करेंगे तो दया करते समय आपको अवश्य ही यह विचार होगा कि मुझे पहले किसकी दया करनी चाहिए? मान लीजिए कि दो आदमी एक ही स्थिति के कारण दया के पात्र हैं। उनमें एक धर्म का प्रेमी है और दूसरा धर्म का प्रेमी नहीं है। अब आप पहले किस पर दया करेंगे? दया तो दोनों की ही करनी चाहिए—दोनों की कर सकें तो अच्छा ही है, लेकिन दया का क्रम क्या रहेगा? आपके लिए यही उचित है कि आप पहले धर्मप्रेमी की दया करें। अगर आप ऐसा करेंगे, धर्मप्रेमी की रक्षा करके जो धर्मप्रेमी

उसकी दया करेंगे तो आपको ज्ञानी कहा जायगा या अज्ञानी?

आप अपनी दया के विषय में, जिस पर आपका विश्वास हो उससे पूछ देखिए कि दया की प्रवृत्ति के विषय में अंधेर चलता है या नहीं? और अपने से भूल होती है या नहीं? क्या लोग निराधार ही आक्षेप करते हैं? जैनधर्म की निन्दा सुनने से दुःख होना स्वाभाविक है। लेकिन दुःख करने और लड़ने से क्या लाभ है? हमें तो विवेकपूर्वक यही विचारना चाहिए कि लोगों की इस निन्दा का कारण हमारी भूल तो नहीं है? अपनी भूल देखे और उसे सुधारे बिना लोगों से लड़ने और उत्तर-प्रत्युत्तर करने से कोई नतीजा नहीं निकल सकता। मान लो किसी के सिर पर काली पगड़ी है। किसी दूसरे ने उससे कहा—तुम्हारी पगड़ी काली है। अब अगर काली पगड़ी वाला आदमी कहने वाले से झगड़ने लगे तो क्या यह उचित है? और उस झगड़ने वाले से क्या कहा जायगा? निष्पक्ष व्यक्ति यही कहेगा कि—भाई, झगड़ते क्यों हो? अपनी पगड़ी ही क्यों नहीं देखते? अगर तुम्हें काली पगड़ी वाला कहलाना पसंद नहीं है तो अपनी पगड़ी बदल डालो। इसी प्रकार जैनधर्मानुयायियों की दया के विषय में या किसी अन्य विषय में लोग जो आरोप करते हैं, उस आरोप के संबंध में स्वयं विचार न करके और अगर हम कोई भूल करते हैं तो उसे न सुधार करके, हम झगड़ा करें या दुःख मनाएँ तो इससे क्या लाभ हो सकता है?

दया के विषय में अगर हमसे कोई भूल होती है तो हमें विचार करना चाहिए। हमें सोचना चाहिए कि वास्तव में हम से क्या भूल हो रही है? कल्पना कीजिए, एक ओर एक आदमी मर रहा है और दूसरी ओर एक गाय मर रही है। आपके लिए पहले किसकी रक्षा करना उचित होगा? आप यही कहेंगे कि पहले मनुष्य की रक्षा करना उचित है। गाय पशु है अतएव मनुष्य के बाद उसका नम्बर आता है। मनुष्य सब जीवों में उत्कृष्ट है। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप में तो यह बात स्वीकार की जाती है, मगर व्यवहार में क्या होता है? जब मनुष्य सब से श्रेष्ठ प्राणी है और अन्य जीवों की अपेक्षा वह दया अथवा रक्षा पाने का प्रथम अधिकारी है तो जिन कारणों से मनुष्य मारे जाते हैं या कष्ट पाते हैं, उन कारणों को या ऐसे कानून-कायदों को रोक देने पर मनुष्यों की कितनी दया न होगी? लेकिन इस ओर लोगों का ध्यान नहीं है। इसका प्रधान कारण ज्ञान की कमी है। आपके अन्तःकरण में करुणा का झरना तो बहता है मगर उसके बहाव को दिशा बतलाने वाले ज्ञान का प्रायः अभाव है। यही कारण है कि अक्सर लोग मनुष्यों की उपेक्षा करके पशु-पक्षियों या दूसरे छोटे जीवों की दया के लिए दौड़ पड़ते हैं। वे अपने कर्त्तव्य के [illegible] का विचार नहीं करते।

[illegible] ज्ञान शुद्ध नहीं होगा तो [illegible] भी
दया का आधार ज्ञान है। अतएव ज्ञान के

संबंधी भूल हो जाना स्वाभाविक है। उचित तो यही है कि जब दया का कारण ज्ञान है तो उसी जीव की रक्षा पहले करनी चाहिए। जिसमें विशिष्ट ज्ञान है। मान लो—एक पशु मारा जा रहा है और एक मनुष्य मारा जा रहा है। यह देखकर आपका हृदय पहले किसे बचाने की प्रेरणा करेगा? मनुष्य को बचाने के लिए ही हृदय में प्रेरणा होगी। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति की भी यही प्रेरणा है कि पहले मनुष्यों की दया करो और फिर दूसरे जीवों की। लेकिन इस विषय में भूल होती है और इसी कारण अपवाद होता है कि जैनियों की दया कायरता लाने वाली है!

यदि अहिंसा का स्वरूप यही होता, जैसा कि आज माना जाता है तो कोई राजा जैन होकर राज्य किस प्रकार चला सकता है? इसलिए दया के कारण ज्ञान की रक्षा पहले करो और ज्ञान के लिए-ज्ञानप्रचार के लिए जितना स्वार्थ त्याग कर सको, करो। ज्ञानियों ने स्पष्ट कहा है—'पढमं नाणं तओ दया।' अर्थात् पहले ज्ञान और फिर दया। अतएव पहले ज्ञान की उपासना करना चाहिए। जिसके पास जैसे साधन हों, वह वैसे ही साधनों को ज्ञान के फैलाव में लगा सकता है। जिसके पास धन है वह धन लगा सकता है, जिसके पास विद्या या शरीर की शक्ति है, वह उसका उपभोग कर सकता है।

आप सर्वज्ञ हैं। फिर भी लोग अगर आपकी निन्दा करते हैं तो इसका प्रधान कारण आपका अपने ज्ञान को विस्मृत कर देना है। आप लोग आपस में एक दूसरे को पराजित करने के लिए तो शक्ति लगाते हैं, इसके लिए रुपया पानी की तरह बहाते हैं, लेकिन ज्ञान के विकास और प्रचार की ओर से, जो अत्यन्त आवश्यक कार्य है, उदासीन रहते हैं। ज्ञान न होने के कारण ही परस्पर में लड़ाई होती है। जिसे ज्ञान होगा वह अवश्य विचार करेगा कि मैं किसी का और विशेषतः अपने भाइयों का दिल न दुखाऊं। अतएव ज्ञान की उपेक्षा मत करो। ज्ञान की रक्षा करो और ज्ञान के लिए कुछ त्याग करो। संक्षेप में यह कहना है कि अपने हृदय में परिवर्तन करो।

हमारा मतभेद किन-किन बातों में है ? फिर उसे दूर करने का मार्ग निकालो, जिससे उनके साथ संघर्ष न हो और मत-भेद भी दूर हो जाय। जब ऐसा होगा तभी गुरुकुल का अस्तित्व में आना सफल होगा। विद्यार्थियों ! तुम्हें समझना चाहिए कि संसारिक काम या खाना-पीना आदि जीवन का गौण काम है। ऐसे तुच्छ प्रयोजनों के लिए यह महान् उत्कृष्ट मानव-जीवन नहीं है। इसका प्रधान उद्देश्य बहुत ऊँचा है। ज्ञान विकास और धर्म की उन्नति करने से ही यह जीवन सार्थक हो सकता है। विद्यार्थियों को यह भी समझना चाहिए कि हमारे समाज में किस चीज़ की कमी है और वह किस प्रकार दूर हो सकती है ! विद्यार्थियों ! तुम लोग धर्म की और सहधर्मियों की उन्नति करना और अपने जीवन को विशिष्ट ध्येय की पूर्त्ति के लिए अर्पित करना।

पहले यह माना जाता था कि राजकुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति ही राज्य चला सकता है लेकिन अब यह सिद्ध हो चुका है कि साधारण कुल में जन्म लेने वाला पुरुष भी राज्य का भलीभाँति संचालन कर सकता है। इस तरह आज ज़माना बदल गया है। इसलिए ज्ञान और दया का प्रचार करने के लिए सदा सावधान रहो। आज लक्षणों से दिखाई दे रहा है कि पश्चिमी देश भी आज स्याद्वाद-शैली की शरण में आ रहे हैं। वहाँ के प्रधान तत्त्वज्ञ महसूस करने लगे हैं कि केवल

जड़वाद या केवल चैतन्यवाद को स्वीकार करना काफ़ी नहीं है। यही नहीं बल्कि हानिकारक भी है। अतएव दोनों का मिश्रण मानना ही उचित है। जैनसिद्धान्त भी यही मानता है। मगर आजकल स्याद्वाद का यह सिद्धान्त उसी तरह कायरों की गोद में जा पड़ा है, जिस प्रकार कायर के हाथ में तलवार हो। कायर के हाथ में तलवार होने से तलवार की भी हँसी होती है और कायर की भी। इसी प्रकार आज यह आपके पास होने के कारण इस सिद्धान्त की हँसी हो रही है। अतएव मेरा कहना है कि कायरता त्यागो और वीर बनो। जागृत होओ। अपने महत्वपूर्ण सिद्धान्तों के ज्ञान को प्रकाशित करो। वह ज्ञान ऐसा हो कि उसकी सहायता से कार्य पूर्ण हो सके और लोगों को मालूम हो जाय कि जैनियों की दया ही सच्ची दया है। आज ऐसे शुद्ध ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है।

सच्चा ज्ञान कैसा होता है, यह बताने के लिए मैंने पहले हृदय और मस्तिष्क का भेद बताया है। हृदय के बिना विचार के या हृदय के बल को ही सच्चा ज्ञान समझना चाहिए। दूसरे संस्कार भी इस बात को स्वीकार करते हैं। मगर आजकल मस्तिष्क-बल के सामने हृदय-बल को तुच्छ समझा जाता है और मस्तिष्क-बल को ही प्रधानता दी जाती है। मगर विचार करो कि हृदय-बल के समान कोई बल या [illegible] नहीं है। यह बात अनुभव में ही आ सकता है. भारत में ही

उन्नत हुआ है और भारत में ही इसका रूप देखने को मिलता है। मैंने किसी पत्रिका के एक लेख में सुना था कि विदेशों के अनेक पादरियों के प्रधान ने कहा था कि इस समय संसार में सब से महान् पुरुष मोहनदास करमचंद गांधी है। विचार करो कि गांधीजी को महापुरुष क्यों कहा गया है? हृदयबल के कारण ही उन्हें इतना गौरव मिला है। हृदयबल होने के कारण ही उन्होंने मौज-मज़े का जीवन त्याग दिया है। अन्यथा वे बैरिस्टर थे। उन्हें किस चीज़ की कमी थी? राजकोट में गांधीजी से मेरी मुलाक़ात हुई थी। उस समय मैंने उन्हें देखा कि उनके शरीर पर उतने भी वस्त्र नहीं थे, जितने हमारे शरीर पर हैं! उनका शरीर भी सूखे गन्ने की तरह था! ऐसा होते हुए भी वे जगत् के सर्वश्रेष्ठ पुरुष माने गये हैं। इसका कारण यही है कि उनमें हृदयबल है। जैनधर्म भी ऐसे ही हृदयबल का समर्थन करता है अर्थात् ज्ञानपूर्वक दया का विधान करता है। मगर आजकल क्या ज्ञानपूर्वक दया की जाती है? अगर की जाती है तो कितने आदमी मिलेंगे, जिनके शरीर पर चर्बी लगे हुए वस्त्र नहीं हैं!

घाटकोपर में देवीदास भाई घेवरिया ने मुझे एक घटना सुनाई। वह कहने लगे—मैं रेल में सफर कर रहा था। मेरे ही पास बगल में एक आदमी और बैठा था। बातचीत के सिलसिले में मैंने दयाधर्म की प्रशंसा की। तब वह आदमी मुझसे

पहने हुआ-दिख, रहते हो। दयाधर्म की ज्यादा तारीफ मत करो। दो भैंसों का चमड़ा लेकर तो बैठे हो और दयाधर्म का बखान करते हो ! उस आदमी की यह बात सुनकर मैं लज्जित हो गया, क्योंकि मेरे पास चमड़े के दो संदूक थे। उन्हीं संदूकों को लक्ष्य करके उसने कहा था कि दो भैंसों का चमड़ा लेकर बैठे हो और दयाधर्म का गुणगान कर रहे हो !

इसी तरह कई लोग दया की बातें तो करते हैं लेकिन शरीर पर से चर्बी लगे हुए वस्त्र तक नहीं उतार सकते। ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि उनकी दया सान-दार है? जो पाप सहज ही टल सकता है उसे भी न टालना कैसी दया है? अगर आपको दया से प्रेम है तो आपका कर्तव्य हो जाता है कि आप ऐसा कोई कार्य न करें जिससे दूसरों को दुःख उपजता हो।

चर्बी के लगे हुए वस्त्र पहले पहनने वाले लोग चर्बी के लिए होने वाली पशुओं की हिंसा में ही सहायक नहीं होते किन्तु परोक्ष रूप में अपने भाइयों की रोटी छीनने में भी सहायक होते हैं। इस तरह की बातों पर विचार करो और [illegible] की मिलों का [illegible] पहले अपने घर के लोगों से ही [illegible]। किसानों को [illegible] कि चर्बी लगे वस्त्रों का [illegible] पहनते हैं [illegible] एक-एक तार के लिए [illegible] होते हैं। यह [illegible] का विचार करो और

जो कुछ भी करो, त्याग के लिए करो।

आज आपका मस्तक-बल आपके हृदय-बल को दबाता जा रहा है। जैसे अपनी माता को अपनी पत्नी के पैरों में गिरने का बाध्य करना उचित नहीं है, उसी प्रकार हृदयबल को, मस्तकबल के आगे झुकना उचित नहीं है। जिस हृदय-बल के प्रताप से आपका जन्म हुआ है उस हृदयबल को कुचलना ऐसा ही काम है। जिस हृदयबल के होने के कारण ही माता ने आपका पालन-पोषण किया है, अब उसी हृदय-बल की उपेक्षा करना क्या उचित है? जिस प्रकार जन्म देने वाली माता की बेइज्ज़ती करना उचित नहीं है, उसी प्रकार हृदयबल की इज्ज़त जाने देना भी ठीक नहीं है। अतएव हृदयबल को विकसित करो और मस्तिष्क-बल को उसके अधीन करो। ऐसा करने से ही आपका कल्याण होगा।

मेरी जान धरम चित्त धर रे।
धरम है सद्गति का दाता,
उसी से मिलती सुख-साता॥

कौन ऐसा है जो धर्म के प्रति प्रीति नहीं रखता हो? धर्म की भावना तो सभी में है, किन्तु धर्माचरण के क्रम में भूल हो रही है। ठाणांगसूत्र के द्वितीय स्थानक में धर्म के दो भेद बतलाये गये हैं—सूत्रधर्म और चारित्रधर्म। यानी पहले ज्ञान और फिर क्रिया! इस प्रकार पहले ज्ञान की आवश्यकता

[illegible] और क्रिया की। इन दोनों से ही धर्म की प्राप्ति होती है। अतएव पहले ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

अपनी माता को भूलकर पत्नी के गुलाम बन जाना ज्ञान नहीं है। अर्थात् हृदयबल को भूलकर मस्तिष्कबल को पकड़ कर बैठ रहना ज्ञान नहीं है। जो एकान्त मस्तिष्कबल पर निर्भर रहता है वह धर्म का आचरण नहीं कर सकता। क्योंकि वह तो आराम चाहता है। उसका दृष्टिकोण तो यही रहता है—

> किस किसकी याद कीजिए किस किसको रोइए।
> आराम बड़ी चीज़ है, मुँह ढँक के सोइए॥

मस्तिष्कबल वाला सोचता है—दुनिया में दरिद्रता और दुर्भिक्ष से सताये हुए अनगिनते प्राणी हैं। हम उनकी चिन्ता करने लगें तो जीवित रहना कठिन हो जाय। जिसने जैसा किया है वह वैसा ही पायेगा! पाप करने वाला सुखी कैसे हो सकता है? अतएव हमें दूसरों की चिन्ता अपने माथे नहीं लेनी चाहिए और जिस प्रकार संभव हो, अपने जीवन में ज्यादा से ज्यादा आराम करना चाहिए। अगर हमारे सुख के कारण दूसरों को दुःखी होना पड़ता है तो हम लाचार हैं। [illegible] करना है। मुझे क्या आवश्यकता है कि किसी दूसरों के लिए मैं कष्ट सहन करूँ?

मगर हृदयबल ऐसा नहीं कहता। हृदयबल क्या कहता है, यह जानने के लिए हरिश्चन्द्र के चरित्र का विचार करो। हरिश्चन्द्र ने किसी से कोई कर्ज़ नहीं लिया था, सिर्फ मौखिक दान दिया था और वह भी जागृत-अवस्था में नहीं। फिर भी उसने यह ऋण चुकाने के लिए अपने आपको बेच दिया और अपनी पत्नी को भी। आजकल के बुद्धिवादी लोग भले ही राजा हरिश्चन्द्र को मूर्ख कहें, क्योंकि वे मस्तिष्कबल के दास हैं, किन्तु हृदय-बल का धनी कदापि ऐसा नहीं सोचेगा। हरिश्चन्द्र की कथा के विषय में गांधीजी लिखते हैं कि इस कथा में असंभव जैसी कोई बात नहीं है। यह कोई नवीन गढ़ी हुई कथा नहीं है। पुराने समय से ही चली आ रही है। इस कथा को अगर कल्पना मान लिया जाय तो ऐसी कल्पना भारत के लोग ही कर सकते हैं और भारत के लोग ही उसे मान सकते हैं। दूसरे लोगों में तो ऐसी कल्पना का होना भी कठिन है।

आज की स्थिति तो यह है कि जो कर्ज़ लिया है और जिसके लिए लिखापढ़ी भी कर दी है उससे बचने के लिए भी दिवाला निकाल दिया जाता है। केवल दुकान का नाम पलटने की आवश्यकता समझी जाती है और लिए हुए कर्ज़ को चुकाने से इन्कार कर दिया जाता है। मगर राजा हरिश्चन्द्र ने मुख से दिये गये दान को भी अपने पर कर्ज़ समझा। यह हृदयबल का ही प्रताप है। रानी तारा में भी हृदयबल

मगर हृदयबल ऐसा नहीं कहता। हृदयबल क्या कहता है, यह जानने के लिए हरिश्चन्द्र के चरित का विचार करो। हरिश्चन्द्र ने किसी से कोई कर्ज़ नहीं लिया था, सिर्फ मौखिक दान दिया था और वह भी जागृत-अवस्था में नहीं। फिर भी उसने वह ऋण चुकाने के लिए अपने आपको बेच दिया और अपनी पत्नी को भी। आजकल के बुद्धिवादी लोग भले ही राजा हरिश्चन्द्र को मूर्ख कहें, क्योंकि वे मस्तिष्कबल के दास हैं, किन्तु हृदय-बल का धनी कदापि ऐसा नहीं सोचेगा। हरिश्चन्द्र की कथा के विषय में गांधीजी लिखते हैं कि इस कथा में असंभव जैसी कोई बात नहीं है। यह कोई नवीन गढ़ी हुई कथा नहीं है। पुराने समय से ही चली आ रही है। इस कथा को अगर कल्पना मान लिया जाय तो ऐसी कल्पना भारत के लोग ही कर सकते हैं और भारत के लोग ही उसे मान सकते हैं। दूसरे लोगों में तो ऐसी कल्पना का होना भी कठिन है।

आज की स्थिति तो यह है कि जो कर्ज़ लिया है और जिसके लिए लिखापढ़ी भी कर दी है उससे बचने के लिए भी दिवाला निकाल दिया जाता है। केवल दुकान का नाम पलटने की आवश्यकता समझी जाती है और लिए हुए कर्ज़ को चुकाने से इन्कार कर दिया जाता है। मगर राजा हरिश्चन्द्र ने मुख से दिये गये दान को भी अपने पर कर्ज़ समझा। यह हृदयबल का ही प्रताप है। रानी तारा में भी हृदयबल

था। इसी कारण यह पति के सिर का कर्ज़ उतारने के लिए [illegible] बिकी। राजा भी अपने कर्ज़ को चुकाने के लिए भंगी के हाथ बिका।

क्या राजा हरिश्चन्द्र का भंगी के हाथ बिकना और उसके यहाँ जाकर रहना उचित है? अगर ठीक है तो क्या आप भंगियों को व्याख्यान सुनने के लिए आने दे सकते हैं? आप लोग उनसे घृणा करते हो मगर जैनधर्म उनसे घृणा नहीं करता। शास्त्र में कहा है कि हरिकेशी मुनि चाण्डाल-कुलोत्पन्न थे। पर फिर भी उनकी प्रशंसा की गई है और बतलाया गया है कि जैनधर्म के समीप जाति-पाँति का कोई महत्व नहीं है। महत्व तप का है। आप भी विचार कर देखें कि जिन भंगियों से घृणा की जाती है, वे ऐसा क्या करते हैं, जिसके कारण उन्हें घृणा का पात्र समझा जाता है? आप लोग अपने-अपने घरों में टट्टी जाते हैं, और घर को अपवित्र बनाते हैं। भंगी आकर घर की सफाई करता है-उसे पवित्र बनाता है। क्या यही उसका अपराध है? घर को अपवित्र करने वाला पवित्र है और पवित्र करने वाला अप-वित्र है! यह कहाँ का न्याय है! यह कैसा धर्म है! इस प्रकार के अज्ञानपूर्ण और अधर्ममय विचार ज्ञान न होने के कारण ही होते हैं। जिसको ज्ञान होगा और ज्ञानपूर्वक दया करता होगा, वह भंगी से घृणा नहीं करेगा। जहाँ काम नहीं अटकता वहाँ आप भी घृणा नहीं करते, जैसे रेल में। मग

वही भंगी अगर यहाँ व्याख्यान सुनने आवें तो आप उनसे घृणा करने लगेंगे। यह अनुचित्त है। अतएव सत्य को समझने के लिए ज्ञान प्राप्त करो। अगर आपसे ज्यादा कुछ न बन सके तो कम से कम हरिश्चन्द्र के आदर्श की-उसके चाण्डाल के हाथ बिकने के आदर्श की-निन्दा तो मत करो! अगर आपने आज इतना किया तो आगे भी कुछ कर सकोगे।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु को पहले ज्ञान की कसौटी पर कसो और फिर उसके विषय में किसी प्रकार का निर्णय करो। आप स्वयं ज्ञान प्राप्त करो और दूसरे लोग, जो ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें ज्ञान के साधन प्रदान करो। हमारा धर्मतत्त्व, हमारे सिद्धान्त इतने सच्चे हैं कि ज्ञान की कसौटी पर कसे जाने पर उनकी महिमा बढ़ेगी ही, घट नहीं सकती। अतएव ज्ञान की आराधना करो और जो लोग स्वार्थ त्याग कर ज्ञान के प्रचार में लगे हैं, उनको यथोचित सहकार दो। ऐसा करने में ही शासन की प्रभावना है। इसी में आपका कल्याण है।*



*लगभग अढ़ाई हजार श्रोताओं की उपस्थिति में मोरबी के राजमहल के चौक में दिया गया व्याख्यान।

अपना आप सहायक

अपना जिनेश्वर निज मांहि ।

यह भगवान अनन्तनाथ की प्रार्थना है । इस प्रार्थना में [illegible] परमात्मा को अपने हृदय में धारण करने की भावना [illegible] है ।

भक्त कहते हैं — हे प्रभो ! यद्यपि मेरी भी आत्मा अनन्त [illegible] [illegible] ज्ञान से विमुख होकर अपने स्वरूप को भूल रहा हूँ । आत्मा की [illegible] अवस्था से विकास कर अनन्त [illegible] अवस्था में आना कोई असम्भव कार्य नहीं है, फिर भी [illegible] नहीं है । [illegible] इस ओर जितने पैर बढ़ सकें, बढ़ाना [illegible] है ।

कहा जा सकता है कि आत्मा को अनन्त ज्ञान से विकास [illegible] अवस्था में लाने की प्रार्थना करना तो ठीक है, मगर [illegible] प्रार्थना की जाती है, उस परमात्मा का कहीं ठिकाना [illegible] ठिकाना एक-ठिकाना ही नहीं है, इसके [illegible] भी तो किस प्रकार ? इस प्रश्न के उत्तर में [illegible] कहा जा सकता है कि परमात्मा दूर नहीं है । वह कहीं

से समीपतर है। मगर उस समीप के परमात्मा को समझने में भूल हो रही है। अगर हम उस भूल को दुरस्त कर लें तो परमात्मा को समझ सकते हैं। ऐसा करने के लिए सर्वप्रथम चित्त को शान्त करना चाहिए। शान्त और स्वच्छ जल में ही मुँह दीखता है। जो पानी शान्त और स्वच्छ नहीं है, उसमें मुँह नहीं दीखता। अतएव सर्वप्रथम चित्त को शान्त करने की अनिवार्य आवश्यकता है।

परमात्मा को जानने के लिए ही योग की क्रिया बतलाई गई है। योग क्या है, इस संबंध में कहा गया है—

योगाश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

अर्थात्—चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग कहलाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चित्त को तल्लीन करने को ही योग कहते हैं। प्रश्न होगा कि चित्त तो अनेक अयोग्य कामों में भी तल्लीन होता है। वेश्यागामी अपने काम में चित्त तल्लीन रखता है। जुआरी अपने काम में तन्मय रहता है। और शराबी शराब में ही तल्लीन बना रहता है। इस प्रकार बुरे कामों में भी चित्त की तल्लीनता देखी जाती है। यह तल्लीनता भी क्या योग कहला सकती है? चित्त बुरे कामों में भी तल्लीन हो जाता है, यह सिद्ध करने के लिए अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। रावण का मन सीता में तल्लीन था। क्या उसे सीता के सिवाय और कुछ नज़र आता

से समीपतर है। मगर उस समीप के परमात्मा को समझने में भूल हो रही है। अगर हम उस भूल को दुरुस्त कर लें तो परमात्मा को समझ सकते हैं। ऐसा करने के लिए सर्वप्रथम चित्त को शान्त करना चाहिए। शान्त और स्वच्छ जल में ही मुँह दीखता है। जो पानी शान्त और स्वच्छ नहीं है, उसमें मुँह नहीं दीखता। अतएव सर्वप्रथम चित्त को शान्त करने की अनिवार्य आवश्यकता है।

परमात्मा को जानने के लिए ही योग की क्रिया बतलाई गई है। योग क्या है, इस संबंध में कहा गया है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

अर्थात्—चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग कहलाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चित्त को तल्लीन करने को ही योग कहते हैं। प्रश्न होगा कि चित्त तो अनेक अयोग्य कामों में भी तल्लीन होता है। वेश्यागामी अपने काम में चित्त तल्लीन रखता है। जुआरी अपने काम में तन्मय रहता है। और शराबी शराब में ही तल्लीन बना रहता है। इस प्रकार बुरे कामों में भी चित्त की तल्लीनता देखी जाती है। यह तल्लीनता भी क्या योग कहला सकती है? चित्त बुरे कामों में भी तल्लीन हो जाता है, यह सिद्ध करने के लिए अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। रावण का मन सीता में तल्लीन था। क्या उसे सीता के सिवाय और कुछ नज़र आता

था ? नहीं। उसका मन तल्लीन था और तल्लीनता ही यदि योग है तो फिर रावण की निन्दा करने का क्या कारण है ?

इस प्रकार योग की व्याख्या तल्लीनता कही गई है, उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। अतएव यह लक्षण अपूर्ण है। इस अपूर्णता को मिटाने के लिए कहा गया कि चित्त की वृत्ति का दूसरे कामों तल्लीन होना ही योग नहीं है, वरन्—

तदा द्रष्टा स्वरूपावसानम् ।

अर्थात्—चित्त को एकाग्र करके द्रष्टा का अपने ही स्वरूप को देखना योग है। काम क्रोध आदि में चित्त को तल्लीन करना योग नहीं है। विषय में चित्त की तल्लीनता द्रष्टा का अपने स्वरूप में रहना नहीं है। अतएव ऐसी तल्लीनता योग के अन्तर्गत नहीं है।

योग की यह व्याख्या है। इस व्याख्या को समझकर आप अपने विषय में विचार कीजिए कि हमारा चित्त आत्म-स्वरूप देखने में तल्लीन होता है या नहीं ? अगर होता है तब वह छोटा या मोटा योग ही है जो परमात्मा के जानने का ही मार्ग है। अगर चित्त की वृत्ति विषयों से निकलकर आत्मा या परमात्मा के रूप में एकाग्र नहीं होती तो समझ लीजिए कि आप परमात्मा को जानने के मार्ग पर नहीं चल रहे हैं, चाहे ऊपरी दिखावा कैसा भी हो, कोई साधु का वेष ही धारण क्यों न कर ले, या ध्यान लगाकर ही क्यों बैठा रहे !

इस तथ्य को समझने के लिए शास्त्र में आई हुई एक घटना लीजिएः—

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यान में बैठे हुए थे। वे ऊपर से तो ऐसे दीखते थे मानो आत्मा या परमात्मा में चित्त को लगाए हुए हैं, लेकिन वास्तविक बात कुछ और थी। राजा श्रेणिक प्रसन्नचन्द्र ऋषि को इस प्रकार ध्यान में बैठे देखा। उसे आश्चर्य हुआ कि इन ऋषि का ऐसा प्रगाढ़ ध्यान है! इस प्रकार उनके ध्यान से प्रभावित होकर राजा ने भगवान् से पूछा—प्रभो! प्रसन्नचन्द्र ऋषि का जैसा ध्यान मैंने देखा है वैसा ध्यान किसी दूसरे का नहीं देखा। अगर वे इस समय शरीर का त्याग करें तो किस गति को प्राप्त हों?

राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—अगर वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जाएँ।

यह उत्तर सुनकर श्रेणिक के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने पूछा—भगवान्! ऐसा क्यों? और जब ऐसे ध्यानी महात्मा सातवें नरक में जाएँगे तो मुझ जैसे पापी की क्या गति होगी? प्रभो! स्पष्ट रूप से समझाइए कि सब से अधिक वेदना वाले सातवें नरक में वे महात्मा क्यों जाएँगे?

भगवान् ने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया-राजन्, अब उनकी भाव-स्थिति बदली है। अतएव इस समय काल करें तो सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हों!

भगवान् की वाणी पर अटल श्रद्धा रखता हुआ भी श्रेणिक राजा गड़बड़ में पड़ गया। उसने सोचा—कहाँ सर्वार्थसिद्ध विमान और कहाँ सातवाँ नरक! दोनों परस्पर विरोधी दो सिरों पर हैं। एक सांसारिक सुख का सर्वोत्तम स्थान है और दूसरा दुःख का सर्वोतम स्थान है! एक का जीवन अगले भव में मोक्ष जाना ही है और दूसरे से निकलने वाला अगले भव में मोक्ष जा ही नहीं सकता! क्षण भर में इतना बड़ा भारी परिवर्त्तन! यह कैसे संभव है? इस प्रकार सोचकर श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया—प्रभो! अभी-अभी तो आपने सातवें नरक के लिए कहा था और अब आप सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होने की बात कहते हैं! आखिर इसका कारण क्या है?

राजा श्रेणिक इस प्रकार प्रश्न कर ही रहा था कि उसी समय देवदुंदुभी का श्रुतिमधुर निर्घोष राजा के कानों में सुनाई दिया। राजा ने पूछा—प्रभो! यह दुंदुभी कहाँ और क्यों बजी है?

भगवान् ने कहा—प्रसन्नचन्द्र ऋषि सर्वज्ञ हो गये हैं!

राजा श्रेणिक चकित रह गया! उसने कहा—देवाधिदेव! कुछ समझ में नहीं आया! अभी आपने कहा था कि अभी काल करें तो सातवें नरक में जाएँ, फिर कहा कि सर्वार्थसिद्ध विमान में जाएँ और अब आप कहते हैं कि वे सर्वज्ञ हो गए

हैं ! मैं इसका मर्म समझना चाहता हूँ और उनका चरित सुनने की इच्छा करता हूँ। मुझ अज्ञ प्राणी पर अनुग्रह कीजिए !

भगवान् ने कहा—राजन् ! प्रसन्नचन्द्र ऋषि पोतनपुर के राजा थे। उन्हें संसार से वैराग्य हो गया और वे संयम ग्रहण करने के लिए उद्यत हुए। मगर उनके सामने एक समस्या खड़ी हुई कि लड़का अभी छोटा है। इसे किसके सहारे छोड़ा जाय ? इस विचार के कारण संयम ग्रहण करने में विलम्ब हो रहा था। परन्तु उनके किसी हितैषी ने अथवा उनके अन्तरात्मा ने कहा कि धर्मकार्य में ढील नहीं करना चाहिए। 'शुभस्य शीघ्रम्' होना चाहिए।

प्रसन्नचन्द्र ने कहा—तुम्हारा कहना ठीक है। मुझे संसार से विरक्ति हो गई है और वह विरक्ति ऊपरी नहीं भीतरी है, क्षणिक नहीं, स्थायी है, मगर विलम्ब का कारण यह है कि पुत्र छोटा है। उसे किसके भरोसे छोड़ा जाय ?

प्रसन्नचन्द्र के इस कथन का उन्हें उत्तर मिला-अगर आज ही तुम्हें मृत्यु आ घेरे तो छोटे बालक की रक्षा कौन करेगा ? वैराग्य के साथ मोह-ममता के यह विचार शोभा नहीं देते। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को यह कथन ठीक मालूम हुआ और उन्होंने संयम लेने की तैयारी की। संयम लेने से पहले उन्होंने अपने पाँच सौ कार्यकर्त्ताओं को बुलाकर उनसे कहा-यह बालक छोटा है। यह तुम्हारे सहारे है। जब तक यह

बड़ा न हो जाय, इसकी सँभाल रखना। कर्मचारियों ने आश्वासन देते हुए कहा-आपकी आज्ञा प्रमाण है। हम राजकुमार की सँभाल करेंगे और प्राण भले दे देंगे मगर इन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देंगे।

प्रसन्नचन्द्र ने पूर्ण वैराग्य के साथ संयम ग्रहण किया। मगर ऐसे उत्कट वैरागी की भावना में भी दूषण लग गया था। अतएव तुम्हारे पूछने पर मैंने यह कहा था कि यदि वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जावें।

राजा श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया-प्रभो! उनकी भावना किस प्रकार दूषित हुई ?

भगवान्—जिस समय तुम सेना लेकर यहाँ आ रहे थे, उस समय प्रसन्नचन्द्र ऋषि ध्यान में बैठे थे। तुम अपनी सेना के आगे-आगे दो आदमियों को इसलिए चला रहे थे कि वे भूमि देखते रहें और कोई जीव कुचल न जाय। दोनों आदमी मार्ग साफ करते जाते थे। उन दोनों ने भी प्रसन्नचंद्र ऋषि को देखा। उनमें से एक ने कहा-यह महात्मा कितने त्यागी और कैसे तपस्वी हैं। देखो, किस तरह ध्यान में डूबे हुए हैं! इनके लिए जगत् की सम्पदा तुच्छ है।

एक आदमी के इस प्रकार कहने पर दूसरे ने कहा-तू भूल रहा है। यह महान् पापी और ढोंगी है। इसके समान पापी और ढोंगी शायद ही कोई दूसरा होगा।

पहले आदमी ने साश्चर्य पूछा—क्यों ? यह पापी क्यों है?

दूसरा आदमी बोला—अपने नादान बालक को अपने कर्मचारियों के भरोसे छोड़ कर साधु हुआ है। मगर उन कर्मचारियों की नियत बिगड़ गई है। वे सब आपस में मिल गये हैं और राजपुत्र की घात करने की फिराक़ में हैं। जब वे लोग उसे मार डालेंगे तो यह निपूता मरेगा ! यह इसका पापीपन नहीं है ? इसने कैसी भयानक भूल की है ! दूध की की रक्षा के लिए बिल्ली को नियत करना जैसे मूर्खता है, उसी प्रकार राजकुमार को कर्मचारियों के भरोसे छोड़ना मूर्खता है। इसकी मूर्खता के कारण ही अज्ञान बालक को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ेगी और यह मरकर नरक में जाएगा !

श्रेणिक, तुम्हारे दोनों आदमियों की आपस की बातें ऋषि प्रसन्नचन्द्र ने सुनीं। यह बातें सुनकर उनके वैराग्य की भावना बदल गई। वह सोचने लगे-दुष्ट कृतघ्न लोग मेरे पुत्र की हत्या करना चाहते हैं ! मैं ऐसा कदापि नहीं होने दूँगा। मुझमें बल की कमी नहीं है। अब तक मुझे राज्यबल ही प्राप्त था पर अब मैं योगबल का भी अधिकारी हूँ। इन दोनों बलों द्वारा उन दुष्टों को बुरी तरह कुचल दूँगा।

प्रसन्नचन्द्र ऋषि के चित्त में इस प्रकार अहंकार का उदय हुआ और प्रतिशोध की भावना भी उत्पन्न हुई। वे अपने मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करने लगे।

यहाँ तक कि वे मन ही मन घोर युद्ध करने लगे और अपने शत्रुओं का संहार करने लगे। जब वे ऐसा कर रहे थे तभी तुमने प्रश्न किया कि वे काल करें तो कहाँ जावें ? तुम उन्हें ध्यान में समझते थे और मैं देखता था कि वे घोर युद्ध में प्रवृत्त हैं। इसी कारण मैंने कहा था कि अगर वे इस समय काल करें तो सातवें नरक में जावें।

राजा श्रेणिक की उत्कंठा और बढ़ी। उसने प्रश्न किया—भगवन्! फिर आपने सर्वार्थसिद्ध विमान में जाने के लिए कैसे कहा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—प्रसन्नचन्द्र ध्यान-मुद्रा में बैठे-बैठे भी क्रोध के आवेश में आकर युद्ध करने में लगे थे। उसी क्रोधावेश में उनका हाथ अपने मस्तक पर जा पहुँचा। उन्होंने अपने सिर पर हाथ फेरा तो उन्हें विदित हुआ कि मेरे सिर पर केश नहीं हैं। यह सोचते ही उन्हें सुध आई कि—अरे! मैं तो त्यागी हूँ! फिर भी ऐसे प्रपंच में पड़ा हूँ! मैंने जिसे त्याग दिया है, उसी के लिए फिर संसार में जाने की या चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? जिसे वमन कर दिया है उसे फिर अपनाने का विचार ही अशोभनीय है!

भगवान् ने जो कुछ कहा है और मैंने आपको जो सुनाया है, वह सिर्फ प्रसन्नचन्द्र ऋषि के संबंध में ही न समझिए। इस कथन का संबंध अगर उन्हीं के साथ होता और आपके

साथ न होता तो आपके समक्ष यह कथा रक्खी ही क्यों जाती? इस कथा के आधार पर आपको अपने संबंध में विचार करने की आवश्यकता है। आप अपने मन की गति पर विचार कीजिए। आप यहाँ बैठे हैं पर आपका मन कहाँ जा रहा है? प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान में बैठे थे, परन्तु उनका मन कहाँ से कहाँ चला गया था! और उसका परिणाम क्या हुआ? इसी प्रकार आप बैठे तो यहाँ हैं, मगर आपका मन अन्यत्र चला गया तो उसका परिणाम क्या होगा? आपका मन स्वतंत्र है। आप उसका उपयोग करने में भी स्वतंत्र हैं। जैसा आप चाहें अपने मन का उपयोग कर सकते हैं। जब यह सत्य है तो आप ऐसी जगह बैठ कर भी अपने मन को बुरी जगह क्यों जाने देते हैं? आपको सोचना चाहिए कि आप क्या लेने के लिए यहाँ आये हैं? जो कुछ आप लेने आये हैं, वह वस्तु मन को एकाग्र करके आत्मा का स्वरूप देखने से और इस प्रकार आत्मबल प्राप्त करने से ही मिल सकती है। कहा भी है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

आत्मा में चित्त की एकाग्रता से ही आत्मा का दर्शन होता है। यही ऐसा बल है जिसके द्वारा परमात्मा को जान सकते हो। अतएव चित्त को परमात्मा के स्वरूप में स्थिर करो-एकाग्र करो और इस बात का सदैव ध्यान रक्खो कि

जिस वस्तु का त्याग कर दिया है, कभी उसकी ओर मन न जावे। त्यागी हुई वस्तु की ओर मन के आकर्षित होने का फल क्या होता है, यह बात प्रसन्नचन्द्र ऋषि का वर्णन करते हुए भगवान् ने बतला दी है कि उस दशा में काल करे तो सातवें नरक में जाय! इसी से कहा भी है—

चतुरायां रीझे नहीं, महा विचक्षण राम।
रीझे सच्चे प्रेम से, कला न आवे काम॥

परमात्मा दिखावे से नहीं रीझता। ढोंग परमात्मा को प्रसन्न नहीं कर सकता। परमात्मा की प्रसन्नता अन्तःकरण की शुद्धि पर अवलंबित है। अतः यहाँ या ध्यान में बैठ कर भी यह देखना चाहिए कि मैं वास्तव में परमात्मा की शरण में हूँ अथवा विषयों की शरण में हूँ?

भगवान् ने राजा श्रेणिक से कहा-प्रसन्नचन्द्र ऋषि ने जब अपने सिर पर हाथ फेरा और जब उन्होंने अपनी स्थिति का विचार किया, तब वे सोचने लगे-अरे! मैंने यह क्या किया? संसार का त्याग कर चुकने के पश्चात् फिर संग्राम क्यों? और जब संग्राम से रक्षा हो सकती है तो क्या एकान्त धर्मसाधना से रक्षा नहीं होगी? मैंने जिसे त्याग दिया, उसके लिए संग्राम करने को उद्यत हो जाना मेरा घोर अधः-पतन है! मुझे धिक्कार है!

इस प्रकार की जागृति आते ही उनके परिणामों में सहसा परिवर्त्तन हो गया। कर्मों का बंध परिणाम के अनुसार ही होता है। कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मन ही बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण है। सत्संग आदि मन को शुद्ध रखने के कारण तो हैं, लेकिन फल तो मन के परिणामों के अनुसार ही होता है। जब पानी बरसता है तो नीम को नीम के अनुसार गुण होता है और आम को आम के अनुसार। अब आप सोच देखिए कि आपको क्या बनना है-आम बनना है या नीम बनना है? याद रक्खो, अपने मनोभावों को विशुद्ध रक्खोगे तो अच्छा फल पाओगे और यदि मनोभाव कलुषित हुए तो फल भी कलुषित ही प्राप्त होगा। यह एक ऐसी निर्विवाद बात है जो सभी को मान्य है। शास्त्र भी यही कहते हैं, ग्रंथ भी यही कहते हैं, और कुरान में भी यही कहा है कि-'हे मुहम्मद, जो खुद से नहीं बिगड़ता है उसे मैं नहीं बिगाड़ता और जो स्वयं से नहीं सुधरता उसे मैं नहीं सुधारता।' इस प्रकार अन्तिम बात अपने ही हाथ में है। जब कोई व्यक्ति अपनी रक्षा आप करने को उद्यत होता है तभी उसको दूसरे की सहायता भी मिल सकती है। जो अपनी रक्षा आप नहीं करता उसको दूसरे की सहायता भी नहीं मिलती। इसके लिए श्रीकृष्ण का उदाहरण लीजिए।

श्रीकृष्ण ने सब यादवों को एकत्रित करके कहा-अगर तुम मेरी बतलाई हुई तीन बातें मानो तो मैं तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ, अन्यथा तुम्हारी रक्षा करने में मैं असमर्थ हूँ। यादवों ने पूछा-वे तीन बातें कौन-सी हैं ? तब कृष्णा ने कहा-पहली बात यह है कि तुम जुआ न खेलो। जुआ खेलने से कितनी हानि होती है, यह देखना हो तो धर्मराज को देखो। धर्मराज ने अपने भाइयों को और यहाँ तक कि द्रौपदी को भी दाव पर लगा दिया था। तुम लोग कैसे भी क्यों न होओ, धर्मराज की बराबरी नहीं कर सकते। ऐसी दशा में धर्मराज को भी जब घोर विपत्ति सहना पड़ी तो तुम जुआ खेलकर विपत्ति से कैसे बच सकते हो ? अतएव जुआ खेलने का त्याग करो।

आज विदेशियों की संगति से दौड़ आदि के नाम पर जुआ खेला जाता है। नाम चाहे कुछ भी रख लिया गया हो, लेकिन दौड़ आदि के नाम पर लगाई जाने वाली हार-जीत जुए के ही अन्तर्गत है। जुए से होने वाली हानि प्रसिद्ध है। राजाओं का कर्त्तव्य है कि वे अपने-अपने राज्य में जुए का निषेध करें-उसे रोकें। सुना है यहाँ (मोरवी में) यों तो जुआ खेलना निषिद्ध है परन्तु जन्माष्टमी के अवसर पर जुआ खेलने की छूट दी जाती है। जो कृष्ण जुआ न खेलने का उपदेश देते थे उन्हीं के जन्मदिन के अवसर पर जुआ खेलना और राज्य की

ओर से इसकी छूट होना कितना अनुचित है ? मेरा खयाल है कि महाराजा स्वयं तो जुआ खेलने के समर्थक नहीं होंगे मगर आप लोगों की आदत देखकर या आपकी खुशामद में पड़ कर ही जुआ खेलने की छूट देते होंगे। अगर ऐसा नहीं है तो आप लोग महाराजा साहब से जुआ बंद कर देने की प्रार्थना करें तब क्या महाराजा साहब जुआ बंद नहीं करेंगे?

[पूज्यश्री के यह फ़रमाने पर महाराजा मोरवी ने कहा-मैं तो जुआ बंद कर दूँगा और इसके लिए आज्ञा जारी कर दूँगा; लेकिन आप इन लोगों से कहिए कि यह छिपकर जुआ न खेलें। जाहिरा खेलने वालों को तो रोका जा सकता है, मगर छिपकर खेलने वालों का क्या किया जाय ? उन्हें तो आप ही रोक सकते हैं।]

महाराजा साहब के यह कहने पर पूज्यश्री ने फ़रमाया-प्रसन्नता की बात है कि आप लोगों के कल्याण के लिए महाराजा साहब ने जुआ बंद कर देना स्वीकार किया है। अब आपका कर्त्तव्य है कि आप छिपकर जुआ न खेलें। अच्छा यही होगा कि आप जुआ खेलने का ही त्याग कर लें।

[पूज्य श्री की इस हार्दिक प्रेरणा से व्याख्यानसभा में उपस्थित समस्त नर-नारियों ने जुआ खेलने का त्याग कर दिया।]

महाराजा साहब ने एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है। इस उदाहरण को सामने रखकर दूसरी जगह भी जुए का

खेल बंद कराया जा सकता है। अलबत्ता प्रयत्न करने वाले चाहिए।

संभव है, महाराजा साहब की जुआबन्दी की आज्ञा सुनकर कुछ जुआप्रेमियों को कष्ट पहुँचे। वे सोच सकते हैं कि एक-दो दिन मौज-मज़ा करने के थे सो उनमें भी अड़ंगा लगा दिया गया! लेकिन इस मौज-मज़े से कैसी-कैसी हानियाँ होती हैं, इस बात पर विचार करके देखो। जुए से होने वाली हानि के लिए एक उदाहरण धर्मराज युधिष्ठिर का दिया जा चुका है। जब धर्मराज जैसे सामर्थ्यशाली पुरुष भी जुए से होने वाली विपदा से न बच सके तो आप किस गिनती में हैं? आप विपदा से कैसे बच सकते हैं?

महाराजा साहब आपका कल्याण चाहते हैं। इस कल्याण-कामना से प्रेरित होकर ही उन्होंने द्यूत-प्रतिबंधक आज्ञा जारी करना स्वीकार किया है। अगर आपके कल्याण की भावना न होती तो महाराजा का क्या बिगड़ता था? आप जुआ खेलते थे और महाराजा साहब को लाभ होता था। वे उस लाभ को क्यों त्यागते? आपका जुआ खेलना बंद करके महाराजा ने आपके ऊपर अनुग्रह किया है और साथ ही स्वार्थत्याग भी किया है। ऐसी स्थिति में आप सबका कर्त्तव्य है कि आप महाराजा की इस आज्ञा के पालन में सहायक बनें और न स्वयं लुक-छिप कर जुआ खेलें और न दूसरों को खेलने दें।

कृष्ण ने यादवों से कहा—प्रथम तो आप लोग जुआ न खेलें और दूसरी बात यह है कि आप मदिरापान न करें।

बुद्धिं लुम्पाति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते ।

जिससे बुद्धि नष्ट होती है वह सब मद्य कहलाता है। मद्य के सेवन से महान् अनर्थ होते हैं। आज की सरकार भी इस बात को समझ गई है। इसी कारण बंबई आदि की कई प्रान्तीय सरकारों ने शराबबंदी की योजना बनाई है। मगर ऐसी चीज़ों का सत्ता के द्वारा बंद होना और बात है तथा धर्म से बंद होना और बात है। कोई भी धर्म मदिरा के सेवन का समर्थन नहीं करता। इस्लाम मज़हब में भी नशा करना हराम है। ऐसी स्थिति में भी अगर कोई आदमी छिपकर पाप करता है तो उसे क्या कहा जाय ? मैंने किसी बोहरे के लड़के को बीड़ी पीते नहीं देखा; लेकिन आपके लड़कों का क्या हाल है ? आप मेरे शिष्य कहलाते हैं और आपके लड़के बीड़ी पीते हैं, यह कितनी बुरी बात है ? मगर जब आप स्वयं बीड़ी पीएँगे तो आपके लड़कों के संस्कार किस प्रकार अच्छे रह सकते हैं ? आप अपने लड़कों को व्यसनहीन और सुसंस्कारी बनाना चाहते हैं तो आप स्वयं ऐसे बन जाइए। बालक अपने बुजुर्गों का अनुकरण करता है। जब कोई बुजुर्ग बिगड़ता है तो वह स्वयं ही नहीं बिगड़ता बल्कि अपने बाल-बच्चों को भी बिगाड़ता है, क्योंकि

छोटे सदा बड़ों का अनुकरण करते हैं। सुना है कि स्कूलों के कई अध्यापक बीड़ी पी कर फेंक देते हैं और लड़के उन टुकड़ों को उठाकर पीते हैं। लड़के सोचते हैं—बीड़ी में कुछ मज़ा होगा तभी मास्टर साहब पीते हैं! मैं जब बहुत छोटा था तब बेलों के सूखे डंठलों को तमाखू के रूप में पीता था और ऐसा मुँह बनाता, मानो बड़ा आनन्द आया हो! तमाखू से क्या हानि-लाभ है, यह तो जानता नहीं था, केवल अनुकरण किया करता था। गांधीजी ने लिखा है कि अनुकरण के कारण उनमें भी बीड़ी पीने का पाप आ गया था। इस पाप के कारण वे घर में चोरी करने लगे और जब चोरी से काम न चला तो मरने के लिए तैयार हो गए। इस तरह बीड़ी के कारण अनेक अवांछनीय परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

बीड़ी की तरह चाय का भी प्रचार बहुत हो गया है। चाय का प्रचलन हो भले गया हो मगर समझदार लोगों का कहना है कि चाय हानि करने वाली चीज़ है। अतएव इस पाप को भी त्यागने की आवश्यकता है। यह मत देखो कि इसका प्रचार बहुत लोगों में हो गया है। यह भी मत सोचो कि सभ्य कहलाने वाले लोग इसका सेवन करते हैं। जब यह निश्चित है कि चाय हानिकारक है तो फिर कोई भी इसका सेवन क्यों न करे, वह हानिकारक ही रहेगी।

जिस हानि करने वाली चीज़ का अधिक प्रचार हो जाता है, उसी का निषेध किया जाता है। कहा जाता है कि उबलते हुए पानी में दूध डालने से दूध का सत्व नष्ट हो जाता है। सुना है कि मोरवी में चाय के लिए अस्सी मन दूध आता है! कई स्थानों पर चाय का व्यवहार बन्द करने के लिए होटलों पर टैक्स बढ़ा दिया गया है, लेकिन इसका कोई अभीष्ट परिणाम नहीं आया। होटल वाले पैसे बचाने के लिए दूध के बदले भ्रष्ट चीजें डाल देते हैं और इस प्रकार वे तो अपने टैक्स की पूर्त्ति कर लेते हैं परन्तु ग्राहकों को मूर्ख बनना पड़ा है!

सरकारी आदेश से ऐसी चीज़ों के बन्द होने की अपेक्षा प्रजा स्वयं समझ कर बन्द कर दे तो कितना अच्छा हो! अगर आप लोग विचार करें तो राज्यसत्ता की भी सहायता मिल सकती है और चाय के पाप से आपका छुटकारा हो सकता है।

आपके यहाँ चाय का इतना अधिक प्रचलन हो गया है कि बहिनें भी चाय पीने लगी हैं और यह कोई बुरा काम नहीं समझा जाता। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि उपवास करने वाली बाइयाँ पारणा करते समय पहले चाय लेती हैं। यह बड़ी भयंकर बात समझिए। जब स्त्री और पुरुष दोनों ही चाय के शौकीन हो जाएँ तो फिर चाय को डर ही किसका

रहा ! घर में उसका स्वच्छन्द विहार होगा और वह बाल-बच्चों के प्राणों को भी चूसे बिना नहीं रहेगी। अतएव इस दुर्व्यसन का त्याग करने के संबन्ध में भी विचार करना चाहिए।

श्रीकृष्ण ने यादवों से कहा—तीसरी बात यह है कि तुम लोग व्यभिचार का सेवन मत करो।

इस प्रकार कृष्णजी ने यादवों के कल्याण का विचार करके उन्हें तीन बातें बतलाईं। मगर यादवों ने कृष्ण का कहना नहीं माना। उन्होंने इन तीनों का त्याग नहीं किया। परिणाम क्या निकला ? दुर्व्यसनों के कारण वे आपस में मूसल से एक दूसरे का सिर फोड़कर मर गये।

दुर्व्यसनों से इस प्रकार हानि होती है। अतएव इनसे दूर रहने में ही भलाई है। मेरा कार्य तो आध्यात्मिक बातों को बतलाना है, लेकिन आध्यात्मिकता के मार्ग में रोड़े अटकाने वाली यह आधिभौतिक वस्तुएँ हैं। इनका त्याग करने पर ही अध्यात्मसाधना का मार्ग सरल और साफ हो सकता है। इसलिए मुझे आपके सामने यह बातें रखनी पड़ती हैं।

जब यादवों का विनाश हो रहा था तब भी श्रीकृष्ण हँस रहे थे। किसी ने कहा—परिवार का सफाया हो रहा है और आप इस प्रकार हँस रहे हैं ? इसके उत्तर में कृष्णजी बोले—मैं रोने के लिए नहीं हूँ। मैंने समझा दिया था कि तुम लोग दुर्व्यसनों का त्याग कर दो, अन्यथा तुम्हारी रक्षा नहीं हो

सकती। मगर यह लोग नहीं माने। अब इनकी रक्षा हो तो कैसे हो? प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपनी रक्षा कर सकता है और स्वयं ही अपना विनाश कर सकता है। एक की रक्षा या विनाश दूसरे के हाथ में नहीं है। आचारांगसूत्र में कहा है-

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं।

हे पुरुष! तू अपना मित्र आप ही है।

श्रीकृष्ण ने भी यही कहा है कि अपना उद्धार आप करो। अतएव मन, वचन और काय से शुद्ध होकर चित्त की वृत्तियों को आत्मा के स्वरूप-दर्शन में एकाग्र करो। ऐसा करने पर आप परमात्मा को जान सकेंगे, सब प्रकार के संकटों से मुक्त हो जाएँगे और शांतिलाभ कर सकेंगे।

गुरुकुल के जो छात्र मुझसे आशीर्वाद लेने आये हैं, उनसे मैं यही कहना चाहता हूँ कि वे अपने आपको सब प्रकार के दुर्व्यसनों से बचाते रहें और अपने जीवन को आदर्श बना कर सब पर छाया करें। वृक्ष जब तक छोटा रहता है तब तक उसकी रक्षा करने की आवश्यकता रहती है। बड़ा हो जाने पर वह स्वयं दूसरों की रक्षा करता है—श्रान्त पथिकों को छाया देता है, फल-फूल देता है। आज विद्यार्थियों को भी ऐसा ही बनना है। संसार नाना प्रकार के संतापों से संतप्त है, विविध प्रकार की व्याधियों से व्याकुल है। उसे शांति पहुँचाने की आवश्यकता है। और यह निश्चित है कि

संसार में शांति के साम्राज्य का प्रसार वही कर सकता है, जिसकी बुद्धि अभ्रान्त होगी, जिसके संस्कार उत्तम होंगे, जो विवेक को आगे करके पैर बढ़ाएगा। आज के विद्यार्थी भविष्य-काल के पथप्रदर्शक बनें और संसार का कल्याण करें, यही मेरा शुभाशीर्वाद और शुभकामना है।



श्रीकृष्ण

श्रीमहावीर नमूँ वर नाणी

यह भगवान् महावीर की प्रार्थना है। भगवान् महावीर ने इस संसार को शांति का उपदेश दिया है। जिस समय भारत में दार्शनिक कलह हो रहा था उस समय भगवान् महावीर ने स्याद्वाद का प्रचार करके जगत् को यह संदेश सुनाया था—परस्पर में क्यों लड़ते हो? पारस्परिक मतभेद और तज्जन्य कलह का कारण है अपूर्ण दृष्टि से विचार करना। अगर तुम्हारी दृष्टि में पूर्णता आ जाय तो कलह के लिए अवकाश ही नहीं रह सकता। विरोध का मूल एकान्तवाद है। दृष्टि जब संकीर्ण होती है, दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति असहिष्णुता उत्पन्न होती है, तब मनुष्य मानने लगता है कि बस सत्य उतना ही है जितना मैं जानता हूँ और वही है जिसे मैं कहता हूँ। मेरे विचार के विरुद्ध जितने भी विचार हैं, सब असार हैं, भ्रमपूर्ण हैं, मिथ्या हैं। इसी प्रकार की विचारधारा दार्शनिक जगत् में कलह का बीजारोपण करती है और धर्म के क्षेत्र में अभिनिवेश उत्पन्न करके अशांति का आह्वान करती है।

भगवान् महावीर ने कहा—अभिनिवेश त्यागो। दृष्टि की संकीर्णता को हटाओ। सत्य इतना तुच्छ नहीं है कि वह पूरा का पूरा तुम्हारे संकुचित मस्तिष्क की परिधि में समा जाय। उसकी पूर्णता समझने के लिए मस्तिष्क को विशाल बनाना पड़ता है। अनेक दृष्टिकोणों से उसे देखना पड़ता है तब कहीं वह समझ में आ सकता है। सम्पूर्ण सत्य विविध नयों—दृष्टिकोणों के बिना समझ में नहीं आता। अपेक्षावाद से विचार करो। ऐसा करने पर तुम वास्तविकता को भी समझ जाओगे और आपस के कलह से बच जाओगे।

वस्तु-तत्त्व को विविध नयों से देखना ही सत्य का दर्शन करना है। यही जैन दृष्टि है। यही भगवान् महावीर की दृष्टि है। यह पूर्ण दृष्टि है। इस दृष्टि से विचार करने पर किसी प्रकार का दार्शनिक मतभेद नहीं रहता। जैनदृष्टि, वादी या प्रतिवादी की दृष्टि नहीं, न्यायाधीश की दृष्टि है। वादी और प्रतिवादी तो अपने-अपने पक्ष का ही समर्थन करते हैं और जिस किसी प्रकार से प्रतिपक्षी के पक्ष का खण्डन करते हैं, लेकिन न्यायधीश वादी और प्रतिवादी—दोनों की बात सुन कर तथा दोनों के पक्ष पर विचार करके सत्य की खोज करता है और अपना निर्णय देता है। न्यायधीश किसी एक पक्ष को ले कर वाद-विवाद में नहीं पड़ता। इसी प्रकार जिसे जैन-दृष्टि प्राप्त है, वह भी किसी तरह के वादविवाद में नहीं

पड़ता। वह सब का कथन सुन कर सत्य की खोज करके उसे अपनाता है।

यों तो प्रत्येक दर्शन पूर्ण होने का दावा करता है, पर प्रत्येक दर्शन दूसरे दर्शन को अपूर्ण और भ्रान्त कहने में संकोच नहीं करता। मगर जैन दर्शन इन सब से निराला है। वह विविध नयों की अपेक्षा से सभी दर्शनों को आंशिक रूप से सत्य स्वीकार करता है। पर संग्रहनय की अपेक्षा से वह वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद की सत्यता को स्वीकार करता है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से बौद्धों के क्षणिकवाद का समर्थन करता है, द्रव्यार्थिकनय से सांख्यमत के नित्यतावाद को अंगीकार करता है। वैशेषिकदर्शन के परमाणुवाद को उसमें स्थान है और पतञ्जलि के योग-दर्शन को भी वह अस्वीकृत नहीं करता। लेकिन जैनदर्शन का कथन है कि इन सब दृष्टियो में से जब एक दृष्टि को ही ग्रहण करके दूसरी दृष्टियों का तिरस्कार किया जाता है, तब वह दृष्टि मिथ्या हो जाती है। कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी सरीखे प्रतीत होने वाले अनन्त धर्म हैं और उनमें से एक को अंगीकार करके शेष को अस्वीकार करना असत्य है। अपेक्षावाद सब के विरोध का मथन करने वाला है। कहा भी है—

विरोधमथनं हि स्याद्वादः।

अर्थात्—एक दर्शन का दूसरे दर्शन के साथ अथवा एक

धर्म का दूसरे धर्म के साथ जो विरोध प्रतीत होता है, उसका अन्त स्याद्वाददर्शन से होता है। इस प्रकार जैनदृष्टि पूर्ण है। वह नयवाद या अपेक्षावाद से सब के कलह मिटाती है। अतएव इस पूर्ण को अपनाना योग्य है। भगवान् महावीर का कथन है कि केवल अपनी ही बात न पकड़ बैठो किन्तु दूसरे का भी पक्ष सुनो और अपना पक्ष दूसरे को समझाओ। अपनी दृष्टि विशाल रक्खो। ऐसी संकीर्ण दृष्टि मत रक्खो कि मेरे सिवाय दूसरे सब गलत कहते हैं। मैं जो कहता हूँ वह सही है। दूसरों की बात सुननी ही नहीं चाहिए।

यद्यपि भगवान् महावीर यही कह गये हैं, परन्तु भगवान् की कही हुई बात आज ग्रन्थों में ही रह गई है। आज उदारता का व्यवहार कम देखा जाता है। सामान्य लोग किसी धर्म के सिद्धान्तों को न देखकर उस धर्म के अनुयायियों के व्यवहार को देखकर धर्म के सिद्धान्तों का अनुमान लगाते हैं। अतएव हमें याद रखना चाहिए कि हमारे व्यवहार से ही लोग हमारे सिद्धान्तों के विषय में निर्णय कर लेते हैं। हमारी संकुचितता से लोग जैनदृष्टि को भी संकुचित समझ लेते हैं। जो लोग केवल व्यवहार को नहीं वरन् जैनशास्त्र को देखेंगे उन्हें मालूम होगा कि जैनदृष्टि कितनी विशाल है। जैनशास्त्रों से जैनदृष्टि की विशालता को समझो और यदि आपको वह ठीक मालूम हो तो उसे अपनाओ।

आज कृष्णजन्म के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। इस संबन्ध में भी भगवान् महावीर की दृष्टि से विचार करूँगा। अगर किसी को बात उचित न मालूम हो या ठीक तरह समझ में न आवे तो वह स्पष्ट कह सकता है। न्यायसंगत विचार का मैं सदा स्वागत करूँगा।

भगवान् महावीर की दृष्टि से कृष्ण का चरित शास्त्रों और कथाग्रन्थों में पाया जाता है। त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र में भी कृष्ण का चरित्र वर्णन किया गया है और समवायांगसूत्र में दशार्ह के वर्णन के आधार पर कुछ कहता हूँ। अपन को श्रीकृष्ण के चरित पर भी भगवान् महावीर द्वारा बताई गई पूर्ण दृष्टि के आधार पर विचार करना चाहिए।

श्रीकृष्ण को जैन अपनी दृष्टि से मानते हैं, वैष्णव अपनी दृष्टि से मानते हैं और राष्ट्रवादी अपनी दृष्टि से मानते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोग विभिन्न दृष्टियों से कृष्ण को मानते हैं। कृष्ण सभी के हितैषी भी थे। आप भी अगर पूर्ण दृष्टि से विचार करें तो आपको मालूम होगा कि कृष्ण सब के हितैषी थे। जैनदृष्टि नाम के भेदको वस्तु का भेद नहीं मानती और तत्त्व को देखती है। उसका कहना है—

राम कहो रहमान कहो कोई कान्ह कहो महादेव री।

श्रीहेमचन्द्राचार्य ने भी यही कहा है—

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवान्, एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥

किसी भी परम्परा में हो, कुछ भी नाम हो, जो निर्दोष है और निष्कलुष है, उसे नमस्कार हो।

अतएव नाम को लेकर झगड़ा न करो। आवश्यकता है गुण देखने की। केवल नाम देखने से झगड़ा होता है। गुण देखे जाएँ तो फिर किसी प्रकार का झगड़ा शेष नहीं रहता। एक ने राम कहा और दूसरे ने रहीम कहा। मगर देखना चाहिए कि जिसे राम कहा गया है और जिसे रहीम कहा गया है, उसके गुण क्या हैं? अगर दोनों के गुण एक हैं तो उन नामों के अर्थ में कोई वास्तविक भेद नहीं होगा। कहा है-

निज गुण रमे राम सो कहिए, रहम करे रहमान री ।

जो अपने आत्म-गुणों में रमण करता है वही राम है और जो रहम करता है वह रहीम या रहमान कहलाता है। ऐसा होने पर भी अगर कोई आदमी राम या रहीम का नाम लेकर बेईमानी करता है तो उसके लिए यही कहा जायगा की वह झूठा है। ऐसा करना राम या रहीम का सच्चा मार्ग नहीं कहा जा सकता। जो ऐसा करता है उसने केवल नाम ही देखा है, गुण नहीं देखे।

मतलब यह है कि नाम कुछ भी हो, महापुरुषों के काम जगत् के हित के लिए ही होते हैं और इसी कारण सब लोग

उन्हें अपना-अपना मानते हैं। अतएव कृष्ण जी के चरित्र पर विशाल दृष्टि से विचार करना चाहिए। यह नहीं समझना चाहिए कि कृष्ण सिर्फ वैष्णवों के ही थे। यह भी नहीं सोचना चाहिए कि हमें कृष्ण का चरित्र सुनने की क्या आवश्यकता है! अगर हमारी दृष्टि तत्त्व पर न पहूँची तो यही कहा जायगा कि अभी हमारी दृष्टि में विशालता नहीं है। अगर आप नाम के बदले काम देखेंगे तो तत्त्व पर पहूँच जाएँगे।

महापुरुषों के नाम उनके गुणों को दृष्टि में रखकर ही लिए जाते हैं। मगर आजकल प्रायः नाम ही लिया जाता है, महापुरुषों के गुण नहीं देखे जाते। उन महापुरुषों ने अपने जीवन में कैसे-कैसे काम किये हैं और हमें क्या करना चाहिए, यह बात लोग भूल रहे हैं। महापुरुषों के काम को न देखने के कारण ही आज भेद दिखाई दे रहा है।

महापुरुषों का जीवन जगत्-हित में रत रहता है या यों कहना चाहिए कि जो अपने जीवन को जगत् के हित के अर्थ उत्सर्ग कर देता है, वह महापुरुष कहलाता है। अतएव किसी भी महापुरुष का वास्तविक जीवन समझने के लिए उनके कर्त्तव्यों को समझना आवश्यक है। जब आपका ध्यान कर्त्तव्यों की ओर जायगा तब आप उनके जीवन का महत्त्व समझ पाएँगे।

आज कृष्ण का जन्मदिन है। कृष्ण ने किसी से अपना जन्म-दिन मनाने के लिए नहीं कहा। फिर भी उनकी जयन्ती

मनाई जाती है। अगर उन्होंने अपने जीवन में जगत्-हित के कार्य न किये होते तो आज कौन उनकी जयन्ती मनाता? मगर उन्होंने जगत् का हित किया और संसार में आनन्द बरसाया। इसी कारण उनका जन्म-दिन मनाया जाता है।

जगत् का हित करने के लिए कृष्ण का यह चरित आपके सामने काच की तरह है। इस काच में आप अपना चरित्र देखो और सोचो कि कृष्ण ने क्या किया था और आप क्या कर रहे हैं? कृष्ण-चरित सुनकर भी अगर आपने जगत् के हित के काम न किये वरन् अपनी ही स्वार्थसाधना में रचे-पचे रहे तो उस दशा में आप श्रीकृष्ण का चरित सुनने के योग्य भी नहीं रह सकते।

कोई कह सकता है कि आजकल संसार बडी तेजी के साथ बदलता जा रहा है। हमें कल की बात भी आज पसंद नहीं आती। ऐसी स्थिति में हज़ारों वर्ष पुरानी बात कैसे पसंद आ सकती है? इन बीच के हजारों वर्षों में दुनिया बहुत बदल गई है। सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याएँ कुछ की कुछ हो गई हैं। लोगों की भावनाएँ भी परिवर्त्तित हो गई हैं। तब हजारों वर्षों पहले के विधिविधान आज किस प्रकार लागू हो सकते हैं?

ऐसा कहने वालों को समझना चाहिए कि जिनमें जीवन है, वे कृष्ण की जयन्ती को पुरानी समझकर उसकी उपेक्षा

नहीं कर सकते। हाँ, जिनमें जीवन ही नहीं है वे भले ही ऐसा कहें। बालक माता का दूध पीता है। क्या वह कहता है कि यह दूध तो वही है जो मैंने कल पीया था ? ऐसा कहकर क्या वह माता के दूध की उपेक्षा करता है ? बालक अपनी माता के स्तन की, यह कहकर अवज्ञा नहीं करता कि यह स्तन पुराना है। माता का स्तन उसे सदा नया-नया ही लगता है। लेकिन बालक ऐसा तभी मानता है जब कि वह जीवित हो। यदि वह जीवित है तो उसे अपनी माता नित्य नयी ही लगती है और वह यही सोचता है कि मेरी माता मेरी उन्नति चाहती है, मुझे नित्य अमृत-सा दूध पिलाती है; मुझे दीन-हीन नहीं बनाना चाहती और न मुझे अवनत ही होने देना चाहती है।

इसी प्रकार अगर आप सोचें कि यह कृष्णचरित आपको जीवन देने वाला है, हमारी उन्नति करने वाला है, तो आपको भी यह पुराना नहीं लगेगा। उस दशा में आप यह नहीं कहेंगे कि कृष्ण की जयन्ती बहुत पुरानी है, अतएव हमें अच्छी नहीं लग सकती। बल्कि आप यह कहेंगे कि कृष्ण के चरित्र से हम अपने विषय में यह जान सकते हैं कि हम उन्नत हुए हैं या अवनत ? उस समय कृष्ण की यह उक्ति आपके कानों में गूंजने लगेगी कि—

न हि कल्याणकरः कश्चित् दुर्गतिं तात ! गच्छति।

अर्थात्—जो पुरुष सत्कार्य में लगा रहता है और धर्माचरण में प्रमाद या ढील नहीं करता है, उसकी दुर्गति कदापि नहीं हो सकती। ऐसे व्यक्ति का न कभी अकल्याण हुआ है, न होता है, न होगा ही।

कृष्ण ने यह वंशी बजाई थी या जगत् को ज्ञान दिया था। लोग कहते हैं—कृष्ण ने वंशी बजाई थी, पर सोचना चाहिए कि उन्होंने लकड़ी की वंशी बजाई थी या ज्ञान की वंशी बजाई थी? अच्छे कार्य को आप चाहे धर्म कहें, पुण्य कहें या और कुछ कहें; लेकिन कृष्ण ने कहा है कि जो अच्छे काम में लगा रहता है, उस व्यक्ति का कभी अकल्याण नहीं होता। कृष्ण ने जनता के सामने इसी उपदेश की वंशी बजाई थी। ऐसे ही कारणों से आज हजारों वर्ष बीत जाने पर भी उनकी जयन्ती मनाई जा रही है।

कहा जा सकता है कि धर्म की बात रहने दीजिये। धर्म की आवश्यकता व्यक्ति के लिए भले हो, लेकिन समष्टि के लिए धर्म की क्या आवश्यकता है? राजा, महाराजा या सार्वजनिक जीवन बिताने वाले के लिए धर्म अनावश्यक है। लेकिन जब लोगों में धर्म के प्रति इस तरह की भावना फैलती है और धर्म की उपेक्षा होने लगती है तब कोई न कोई महापुरुष यह समझाने के लिए आता ही है कि धर्म की जरूरत व्यक्ति के लिए ही नहीं किन्तु समष्टि के लिए भी है। धर्म की बदौलत ही

संसार में थोड़ी-बहुत शांति दिखाई देती है। जब धर्म नहीं होगा या सार्वजनिक जीवन व्यतीत करने वालों के लिए धर्म की आवश्यकता नहीं समझी जायगी तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि संसार में हाहाकार मच जाएगा। कृष्ण ने जन्म लेकर लोगों को यही समझाया था।

यद्यपि संसार में शांति के लिए धर्म की आवश्यकता है, लेकिन आज धर्म की इस तरह उपेक्षा की जाती है जैसे बिना बाप के बेटे की। जैसे बिना बाप के बेटे की कद्र नहीं होती उसी प्रकार धर्म की भी बेकद्री हो रही है। कई लोग कहने लगते हैं—हम धर्म के मामले में स्वतंत्र हैं। धर्म को मानना या न मानना हमारी इच्छा पर निर्भर है। लेकिन ज्ञानियों का कथन है कि—याद रक्खो, धर्म की उपेक्षा मत करो। धर्म पर शक्ति-विशेष का संरक्षण है यह बात कहने भर के लिए नहीं हैं, किन्तु जब भी धर्म की उपेक्षा होने लगती है तभी वह शक्ति किसी न किसी रूप में जन्म लेती है और बतला देती है कि संसार में धर्म की आवश्यकता है। संसार की शांति के लिए धर्म का अस्तित्व अनिवार्य है। धर्म की अवहेलना नहीं की जा सकती।

शक्ति एक गुण है और गुण, गुणी के आधार पर ही रह सकता है। अतएव धर्म की शक्ति भी किसी व्यक्ति के रूप में जन्म लेती है। इसीलिए महापुरुषों के लिए कहा जाता है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

अर्थात्—महापुरुष धर्म का परित्राण करने और पापों का नाश करने के लिए ही जन्म लेते हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कृष्ण के रूप में धर्म की शक्ति का जन्म हुआ।

जब आप यह मानेंगे कि धर्म ही परमात्मा है या धर्म का रक्षक परमात्मा है तभी आप अलौकिक काम करने में समर्थ हो सकते हैं। वस्तुतः अपनी उन्नति और अवनति अथवा शांति और अशांति अपने ही हाथ में है।

इस प्रकार सब बात आपके ही हाथ में है। आप अच्छे काम करेंगे तो आपका अकल्याण कदापि नहीं हो सकता।

बहुत बार लोग अच्छे काम के विषय में यह सोचने लगते हैं कि लोगों की निगाह में मेरे अच्छे काम की कद्र होगी या नहीं? लोग मेरे काम की पूछ करेंगे या नहीं? इस प्रकार वे अच्छे कामों के लिए दूसरों का मुँह देखने लगते हैं। मगर ज्ञानीजनों का कथन है कि अच्छे कामों के लिए दूसरे का का मुँह देखने की क्या आवश्यकता है? परमात्मा को ही पकड़ कर रहो, दूसरों का मुँह मत ताको। जब तुम सत्कार्य में लगे हो तो दूसरों की तरफ क्यों देखते हो। सत्कार्य करके तुम जो संतोष पाओगे, उससे बढ़कर तुम्हारे कार्य की और क्या कद्र होगी? अतएव दूसरों की तरफ से अपनी दृष्टि हटाकर अपनी ही ओर लगाओ और अधर्म से बचे रहकर धर्म में प्रवृत्त होओ।

प्रश्न होता है—धर्म क्या है ? और अधर्म क्या है ? इन छोटे-से प्रश्नों का उत्तर बहुत विशाल है। यहाँ विस्तार में न जाकर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि—

महाजनो येन गतः स पन्थाः।

सर्वसाधारण को यही समझ लेना चाहिए कि जिस मार्ग पर महापुरुष गये हैं उसी मार्ग को पकड़कर मैं चलूँ, यह धर्म है। ऐसा सोचकर धर्म के मार्ग पर चलो। ऐसा करने पर आपका कदापि अकल्याण न होगा।

कृष्णजन्म के विषय में जो कुछ कहना है, उसकी यह पीठिका है। कृष्ण का जन्म कब और किस प्रकार हुआ, अब इस विषय में कुछ कहना है। यह पहले ही बतला दिया गया है कि इस संबंध में जो कुछ कहूँगा, जैनदृष्टि से कहूँगा। इसके अनुसार कृष्ण का जन्म मथुरा में हुआ था। कंस बड़ा अभिमानी था। वह सोचता था कि मेरे सामने सारा संसार तुच्छ है। जो हूँ मैं ही हूँ। मुझे धर्म का अनुचर होकर नहीं रहना है। बल्कि धर्म मेरा अनुचर है। मैं जो कुछ कहूँ, वही धर्म है। मेरे सामने, मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई धर्म नहीं चल सकता। इस प्रकार की उद्धतता से भरी भावना सिर्फ कंस की ही नहीं, उस समय के अन्यान्य राजाओं की भी हो रही थी।

साधारण आदमी की बात अलग है, लेकिन जब राजा-महाराजा आदि समाज में प्रमुख समझे जाने वाले लोग धर्म

से पतित हो जाते हैं, तब उनकी देखादेखी दूसरे बहुत-से लोग भी पतित होने लगते हैं। और जब राजा-महाराजा धर्म पर दृढ़ रहते हैं, तब दूसरे भी बहुत-से लोग धर्म पर दृढ़ रहते हैं। लेकिन उस समय अनेक राजाओं की यह भावना हो रही थी कि हमारा कहना ही धर्म है। कंस ऐसे राजाओं में मुख्य था। दूसरी ओर मगधाधिप जरासंध भी यही मानता था। दिल्लीश्वर दुर्योधन भी कहता था कि हमारी शक्ति के सिवाय धर्म और क्या है ? हमारी शक्ति के सिवाय धर्म नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। हमारी शक्ति के सामने धर्म और ईश्वर की शक्ति, उसी प्रकार नहीं ठहर सकती; जिस प्रकार सूर्य के सामने तारों का प्रकाश नहीं ठहर सकता। इस तरह दुर्योधन घमण्ड में चूर था। कालीनाग, जो नाग जाति का था दूसरी हल्की जाति का का व्यक्ति था, समझता था कि जब तक हममें ज़हर भरा है, कोई हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? जरासंध का पुत्र कालीकुमार दूसरों को चूसना ही अपना परम धर्म समझता था। 'बलवान् के दो भाग' इस कहावत के अनुसार वह दूसरों का शोषण करना अपना अधिकार मानता था।

उस समय के राजा-महाराजाओं की प्रायः यह स्थिति थी। अब राजाओं की मनोदशा ऐसी हो तो जगत् पर कैसा संकट हो सकता है, इस बात की कल्पना करना कठिन नहीं

है। इन राजाओं को उस समय कोई समझाने वाला नहीं था। यद्यपि समझाने की योग्यता रखने वाले पुरुष उस समय मौजूद थे और वे शास्त्रों का सार निकालकर उनके सामने रखते भी थे और यह भी बतलाते थे कि कर्त्तव्य एवं धर्म यह है; मगर राजाओं पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। राजा कहते थे—यह चीज़ हमारे काम की नहीं है, किसी दूसरे को समझाओ। हमारे लिए तो हमारी शक्ति ही धर्म है। इस मनोदशा के कारण सारे भारत में अंधाधुन्धी मची हुई थी। परिणाम यह हुआ कि जो राजा दुखी की सहायता करके दुख मिटाने वाले होने चाहिए थे, वही गरीबों को हज़म करने लगे। इस कारण जगत् में त्राहि-त्राहि मच गई।

धर्मात्मा को देखकर धर्म तो सीखना चाहिए लेकिन अधर्मी को देखकर अधर्म सीख लेना उचित नहीं है!

मथुरा के राजा कंस ने सोचा कि राजकाज में मेरा बाप उग्रसेन बाधक हो रहा है। इसे किसी प्रकार रास्ते से अलग कर देना चाहिए। यह सोचकर अपना रास्ता साफ करने के लिए उसने अपने पिता को कारागार में बंद कर दिया। उसने विचार किया-मैं राजा हूँ—सर्वशक्ति-सम्पन्न हूँ। मेरे काम में जो बाधक हो उसे कारागार के अतिरिक्त दूसरा कोई स्थान उपयुक्त नहीं हो सकता। इस प्रकार उग्रसेन को कारागार के हवाले करके आप निर्विघ्न राज्य करने लगा और मनमानी करने लगा।

अपने पिता को जेल में डालने के उदाहरण इतिहास में भी मिलते हैं। औरंगज़ेब ने भी अपने पिता को जेलखाने में कैद कर दिया था। उसने ऐसा किया सही, मगर परिणाम क्या निकला? उसी परिणाम के आधार पर धर्म और अधर्म का पता लगाना चाहिए।

...इसी प्रकार कंस ने अपने पिता उग्रसेन को कारागार के पींजरे में डाल दिया। जगत् में यह बात प्रसिद्ध हो गई कि कंस ने अपने पिता को कैद कर लिया है। जिसने सुना उसी ने कंस की इस करतूत की अन्यायपूर्ण कहकर उसकी निन्दा की। कंस के एक छोटे भाई का नाम अतिमुक्तक था। उन्हें 'एवन्ता' भी कहते हैं। वह कंस की तरह क्रूर और अन्यायी नहीं थे। वह अतिशय धर्मपरायण और नीतिनिष्ठ थे। अपने पिता को कारागार में कैद हुआ देखकर उन्हें बहुत बुरा मालूम हुआ। मगर वह क्या कर सकते थे सारी सत्ता कंस के हाथ में थी। अतएव उन्होंने विचार किया कि कंस अपने अन्यायपूर्ण कृत्यों से विरत हो जाय तो अच्छा है; अन्यथा इस घर में मेरा रहना ठीक नहीं है। यह सोचकर अतिमुक्तक ने कंस को समझाने का भरसक प्रयत्न किया। खूब अनुनय-विनय करके अन्याय और अधर्म के परिणाम की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया, मगर कंस पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। जैसे बालू से तेल निकालने का प्रयत्न असफल ही रहता है, उसी प्रकार

कंस को समझाने का प्रयत्न भी सफल नहीं हुआ। अन्ततः अतिमुक्तक कुमार ने कंस के साथ असहकार करना ही उचित समझा। वह दीक्षा लेकर मुनि हो गये। अतिमुक्तक मुनि उग्र-विहारी होकर शरीर को सुखाते रहते और यह सोचकर अपनी आत्मा को उन्नत करते रहते कि संसार जघन्य स्वार्थ-साधना का धाम है! संसार की भूलभुलैया अज़ब है। जिन्होंने जन्म दिया, जन्मोत्सव मनाया, पाल-पोसकर बड़ा किया, उन्हीं पिता को जेल में डाल देने से बढ़कर और क्या स्वार्थपरायणता हो सकती है! संसारी प्राणी इतना अधम हो सकता है!

एक बार अतिमुक्तक मुनि भिक्षा के हेतु कंस के घर आये। कंस की पत्नी जीवयशा ने उन्हें पहचान लिया कि यह मेरे देवर हैं। कंस की पत्नी भी बड़ी अभिमानिनी थी। वह मुनि से कहने लगी—वाह देवरजी वाह! कुल की कीर्ति में तुमने चार चाँद लगा दिये! घर-घर भीख माँगते फिरते हो और हमें लजाते हो! राजपुत्र होकर भीख माँगने में तुम्हें लाज नहीं मालूम होती? तुम्हारे भाई प्रतापशाली राजा और तुम भिखारी! यह कितनी बुरी बात है! तुमने तो लाज छोड़ दी है, मगर हमें लज्जित होना पड़ता है!

कंस की पत्नी जीवयशा ने इस प्रकार की जली-कटी बातें सुनाकर मुनि की भर्त्सना की। मुनि ने सोचा—यह वर्त्तमान में

भूली हुई है और भविष्य का इसे ज्ञान नहीं है। इसका अभिमान बेहद बढ़ गया है। इसे भविष्य की सूचना दे दी जाय तो संभव है कि इसकी बुद्धि ठिकाने आ जाय! यह सोचकर मुनि ने जीवयशा से कहा–देवी, धीमी रहो। इतना अभिमान मत करो। जरा अपने पति का चरित्र तो देखो। तुम्हारा पति अपने पिता को कैद करके राजा बना हुआ है, क्या यह अच्छा है? वह नीति और धर्म को भूल रहा है, अन्याय और अधर्म में संलग्न है, घोर अत्याचार कर रहा है। यह सब देखकर तुम्हें लज्जा नहीं आती? और मैंने जगत् के कल्याण का मार्ग अपनाया है, महापुरुषों के महापथ का अनुसरण किया है, यह देखकर तुम्हें लाज लगती है! तुम राज्य के गर्व में चूर होकर अपनी बुद्धि और हृदय को कुचल चुकी हो। इसी कारण तुम्हें विपरीत सूझ रहा है। लेकिन याद रखना, यह स्थिति सदा नहीं रहेगी। राजरानी होने के नाते तुम अपना कर्त्तव्य समझो और पति को प्रशस्त पथ पर लाओ। मेरे कार्यों से नहीं वरन् अपने पति के कार्यों से लज्जित होओ।

जीवयशा—राजपुत्र होकर भीख माँगना क्या लज्जास्पद बात नहीं है?

मुनि—क्या राजपुत्र के लिए अपने बाप को कारागार में बन्द कर देना लज्जा की बात नहीं है? मैं कहता हूँ कि अभिमान मत करो। तुम्हारा अभिमान ज्यादा दिन रहने वाला

नहीं है। तुमने जिस देवकी को दासी की तरह बना रक्खा है, उसी देवकी का सातवाँ पुत्र तेरे पति का वध करेगा और तुझे विधवा बनाएगा।

इतना कहकर मुनि अपनी धीमी चाल से चल दिये। जीवयशा मुनि की भविष्यवाणी सुनकर मूर्छित हो गई। आखिर तो स्त्री ही ठहरी! स्त्रियों में इतना बल और साहस कहाँ कि वे इतनी कठोर बात सुनकर धीरज रख सकें!

उधर उसी समय कंस के दरबार में एक पंडित आया। कंस ने पंडित का सम्मान करके पूछा—आप कहाँ से आ रहे हैं?

पंडित—मैं विद्याध्ययन करके आ रहा हूँ।

कंस—आपने किस विषय का अभ्यास किया है?

पण्डित ने अपनी पढ़ाई का वर्णन करते हुए बतलाया कि मैंने ज्योतिष का भी अध्ययन किया है। ज्योतिष-विद्या के आधार पर मैं भूत, भविष्य और वर्त्तमान की बातें बतला सकता हूँ।

ज्योतिषशास्त्र ईश्वर का नेत्र कहलाता है। ज्योतिषी विद्वान् सात तह में बैठकर भी जो ग्रहण बतलाते हैं, वह आकाश में होता ही है।

कंस ने कहा—अगर आप भूत-भविष्य की बात बतला सकते हैं तो यह बतलाइए कि मेरी मृत्यु किस प्रकार होगी?

किसके हाथ से मैं मारा जाऊँगा? या स्वाभाविक मौत से मरूँगा?

राजा का प्रश्न सुनकर पंडित असमंजस में पड़ गया। लेकिन उसने सोचा-मुझे अपनी विद्या का अपमान नहीं होने देना चाहिए और गणित से जो बात निर्णीत हो, राजा से स्पष्ट कह देना चाहिए।

इस प्रकार निर्णय करके ज्योतिषी ने कंस से कहा-संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। सब में सदैव परिवर्त्तन होता रहता है।

परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।

जन्म होना ही मृत्यु का अटल प्रमाण है। जिसने शरीर धारण किया है, वह एक न एक दिन अवश्य ही शरीर का त्याग करेगा। अनादि काल से चले आने वाले संसार में कोई भी प्राणी सदा जीवित नहीं रहा और न रहने वाला है। बड़े-बड़े सम्राट् और चक्रवर्त्ती आये और चले गये। यहाँ किसी का प्रताप स्थायी नहीं रहा। काल की चक्की में सभी का अभिमान पिसकर चूर-चूर हो जाता है। वास्तव में संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिस पर अभिमान किया जा सके। अतएव राजन्, मेरी धृष्टता के लिए क्षमा कीजिए। आप अभिमान का त्याग करें और जितना संभव हो उतना सुकृत कर लें।

कंस—स्पष्ट कहिए, मुझे मारने वाला कोई है या नहीं ?

पण्डित—हाँ। आपकी बहिन देवकी का सातवाँ पुत्र आपका वध करेगा। आप उसको मारने के लिए जितने भी प्रयत्न करेंगे, वह सब निष्फल सिद्ध होंगे। यही नहीं बल्कि वे उसके लिए अनुकूल होंगे। वह पुरुष साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने के लिए ही जन्म लेगा।

पण्डित का कथन सुनकर भीतर ही भीतर कंस काँप उठा। मगर उसने अपनी हैकड़ी दिखलाते हुए कहा-ऐसा ? अच्छा हुआ कि मुझे अपने शत्रु का पहले ही पता चल गया! मैं सम्राट् हूँ। सम्राटों को अपना अनिष्ट पहले मालूम नहीं होता। यदि मालूम हो जाय तो बहुत-सा प्रबंध किया जा सकता है। पण्डित, तुमने भविष्य की बात का पता देकर बहुत अच्छा किया है, लेकिन मुझे तुम्हारे कथन पर विश्वास नहीं है। अतएव अभी मैं तुम्हें कैद में रक्खूँगा। अगर तुम्हारा भविष्यकथन सत्य हुआ तब तो तुम मुक्त हो ही जाओगे, अन्यथा कारागार में ही रहकर अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा करना!

कंस ने पण्डित को कैद कर लिया। इसके बाद वह अभिमान करने लगा कि मेरा भाग्य कितना अच्छा है जो पहले से ही सब बात का पता लग गया। अब पण्डित को ज्ञात होगा कि ज्योतिष के पोथे कितने थोथे हैं!

इस प्रकार अकड़ता हुआ कंस अपने महल में आया।

महल में आने पर उसने रानी जीवयशा को उदास देखा। उसने रानी से पूछा—देवी, उदास क्यों हो!

जीवयशा अत्यन्त कातर होकर कहने लगी—आज अभी देवर आये थे। उनके साथ मेरी बातचीत हुई। उन्होंने बतलाया है कि तुम्हारे पति को देवकी का सातवाँ लड़का मारेगा। उनके मुख से यह अशुभ और अनिष्ट बात सुनकर अत्यन्त दुःख हो रहा है।

पण्डित और अतिमुक्तक मुनि की एक सरीखी भविष्यवाणी सुनकर कंस को होश में आ जाना चाहिए था। मगर नीतिकार ठीक ही कहते हैं—

भावि चेन्न तदन्यथा।

अर्थात्—होनहार होकर ही रहता है।

इसी कारण कंस ठीक रास्ते पर न आकर उल्टा ही विचार करने लगा। उसने सोचा—जब मुझे मालूम हो चुका है कि देवकी का सातवाँ पुत्र मेरा वध करेगा, तब मैं देवकी को ही क्यों मार डालूं? न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। जब देवकी ही जीवित नहीं रहेगी तो उसका पुत्र कहाँ से आएगा? और मेरा वध कौन करेगा? देवकी का पुत्र मेरा वध करेगा, यह मालूम हो जाने पर भी देवकी को जीवित रहने देना नीतिसंगत नहीं है।

जीवयशा ने कंस को समझाने का प्रयत्न किया। उसने कहा–प्राणनाथ, आप अब शान्त हों। अनीति और अधर्म को त्याग दें। श्वसुर को कारागार से मुक्त कर दें और प्रजा को आनन्दित करें। पर कंस ने जीवयशा की बात भी नहीं सुनी। वह कहने लगा–अगर स्त्रियों की बातें मानने लगूँ तो गज़ब हो जाय ! स्त्रियाँ स्वभावतः भीरु होती हैं। जरा-सी बात में डर जाती हैं। लेकिन हम पुरुष हैं और हमें सत्ता का बल प्राप्त है। इस सत्ता–बल का कैसे त्याग कर दें ?

कंस ने पहले तो वसुदेव और देवकी को यमलोक पहुँचाने का विचार किया मगर होनहार की प्रबलता के कारण उसे ऐसी बुद्धि सूझी कि उसने अपना यह विचार बदल दिया। फिर भी दोनों को कारागार में बंद तो कर ही दिया।

कंस के इतना करने पर भी जो शक्ति प्रकट होनी थी, वह कारागार में भी प्रकट होकर ही रही। वह वहाँ भी न रुकी। वास्तव में धर्म की शक्ति को रोकने में कोई भी समर्थ नहीं है। कंस अधर्म करके उसके फल से बचना चाहता था। उसके सामने देवकी तथा वसुदेव थे। देवकी स्त्री थी और वसुदेव पुरुष होने पर भी उसके कारागार में कैद थे। कंस का प्रकट रूप से सामना करने वाला कोई नहीं था। फिर भी उसका मनोरथ पूर्ण न हो सका। वस्तुतः अधर्म का मनोरथ पूरा नहीं हो सकता।

देवकी कैद में पड़ी हुई भी यही सोचती थी कि मुझे धर्म का पालन करना चाहिए और सन्तान उत्पन्न होने पर कंस को सौंप देने का पति ने जो वचन दिया है उसका भी पालन करना चाहिए। इस विचार के कारण देवकी ने अपने अनमोल पुत्रों को जन्म दे-देकर वसुदेव के हाथों में सौंप दिया कि वे अपने वचन का पालन करने के लिए उन्हें कंस को दे दें। लेकिन ऐसे धर्मात्मा के पुत्र किस प्रकार मारे जा सकते हैं? इस संबंध में अन्तकृद्दशांगसूत्र में कहा है—

सुलसा नामकी एक सेठानी ने देव का स्मरण किया। सुलसा के बच्चे मर जाते थे। देव ने सुलसा से कहा—मृत बालक को पुनः जीवित कर देने की शक्ति तो मुझमें नहीं है, अलबत्ता तुम्हारे मृत बालकों के बदले जीवित बालक लाकर तुम्हें दे दूँगा। सुलसा ने यह स्वीकार कर लिया।

देव, देवकी के बालकों को सुलसा के घर पहुँचा देता था और सुलसा के मृत बालकों को देवकी के पास रख देता था। पुत्र को जन्म देकर देवकी सोचती-जो बालक अभी मार दिया जाने वाला है, उसका मुख देखने से क्या लाभ है? सिवाय अधिक वेदना के और क्या फल होगा? यह सोचकर वह आँख बंद रखकर अपने पुत्र को वसुदेव के हाथों में सौंप देती थीं। 'नाथ! यह पुत्र लीजिए' यह शब्द कहते समय देवकी के हृदय की क्या हालत होती होगी? उस असीम वेदना को

मातृहृदय ही कदाचित् समझ सकता है।

देवकी अपनी प्राणप्रिय सन्तान को वसुदेव के हाथों में सौंप देती थी। वह कहती-'नाथ, यह धरोहर आपकी है। इसका उसी तरह उपयोग कीजिए जिस तरह धर्म का पालन हो।' सन्तान के विषय में माता का हृदय कैसा होता है, यह सभी जानते हैं। उस सन्तान को मरने के लिए दे देना कितनी कठिन बात है! लेकिन देवकी सोचती थी कि पति का धर्म जाना उचित नहीं है। कुछ भी हो, पति ने कंस को सन्तान सौंप देने का वचन दिया है और उसका पालन होना ही चाहिए।

देवकी की तरह वसुदेव भी धर्म पालने वाले थे। इसलिए वे भी पुत्र का मुंह देखे बिना ही सन्तान को ले जाकर कंस के सिपुर्द कर देते थे। कंस उन मरे हुए बालक को देखकर कहता-देखो मेरा प्रताप! मेरे प्रबल प्रताप से मेरे शत्रु जन्मते ही मौत के शिकार बन जाते हैं। फिर भी शत्रु से वैर तो लेना ही चाहिए। इस प्रकार कह कर वह उन मृतक बालकों को भी पैर पकड़ कर पछाड़ देता।

से वैर न भँजा सकने के कारण बेटे से वैर का बदला लेते हैं।

देवकी के छह पुत्रों का यही हाल हुआ। वास्तव में वे छहों सकुशल सुलसा सेठानी के घर पहुँच गये और सुलसा के छह मृतक पुत्रों को मारकर कंस अत्यंत सन्तुष्ट हुआ।

सातवीं बार कृष्ण का जन्म हुआ। उस समय देव-लीला का प्रादुर्भाव हुआ। कंस का कठोर प्रबंध और समस्त प्रयत्न निष्फल हुआ। कृष्ण को जन्म देकर देवकी ने वसुदेव से कहा-आप इसकी रक्षा का प्रयत्न कीजिए। इसकी रक्षा नन्द राजा की रानी यशोदा ही कर सकती है। उसके साथ मेरी बातचीत भी हो चुकी है। अतएव आप इसे गोकुल ले जाइए।

नन्द गोपों के स्वामी थे। राजा तो वे आज कहलाते हैं परन्तु वास्तव में वे उन ग्वालों में से एक थे जिन्हें आज लोग बुद्धिहीन कहते हैं। फिर भी कृष्ण उनके घर गये थे। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या कृष्ण की रक्षा करने वाला कोई राजा-महाराजा नहीं था कि कृष्ण को ग्वाल के घर जाना पड़ा? लेकिन वे ग्वाल के घर जाने के कारण ही दीनानाथ कहलाए। दीनों के प्रति सद्भाव रखने वाला ही दीनानाथ कहलाता है। इसके अतिरिक्त जो सच्चा दीन है परमात्मा भी उसके अधीन रहता है। इसके विपरीत जो दीन न होकर अभिमान रखता है उससे परमात्मा दूर रहता है।

कृष्ण को लेकर वसुदेव रवाना हुए। रात्रि का समय था।

वर्षा मानों कह रही थी कि मैं आज ही बरसूँगी। भाद्रपद महीने के कृष्णपक्ष की अष्टमी की अंधकारमयी रात्रि और सघन मेघों से आच्छादित आकाश ! ऐसे समय में पृथ्वी पर पैर रखकर कौन चल सकता था ? फिर राजा या राजघराने के सुकुमार व्यक्तियों के लिए चलना और भी कठिन था। किन्तु पुत्रवात्सल्य एवं भवितव्य की प्रेरणा से प्रेरित होकर वसुदेव चल दिये।

देवकी ने रुँधे कंठ से कहा—नाथ, जाइए। हम लोग तो निमित्त मात्र हैं। इस महापुरुष की रक्षा तो इसकी शक्ति ही करेगी। हम क्या रक्षा कर सकते हैं ? लेकिन अपने कर्त्तव्य का पालन करना प्रत्येक के लिए आवश्यक है।

कई बार लोग विषम परिस्थिति देखकर पुरुषार्थहीन हो जाते हैं और निराश होकर प्रयत्न करना छोड़ देते हैं। थोड़ी कठिनाई के सामने सिर झुका देने वाले लोग कभी महान् कार्यों में सफलता नहीं पाते। महत्त्वपूर्ण कार्यों में विघ्नों का आना स्वाभाविक है। विघ्नों के आने पर जो पुरुष अधिक दृढ़ता धारण करता है और विघ्नों को चुनौती देकर साहस के साथ अपने लक्ष्य ओर अग्रसर होता ही चला जाता है, उसे सफलता अवश्य मिलती है। वीर पुरुषों को पुरुषार्थ करते जाना चाहिए। कहावत है—'हिम्मते मरदां मददे खुदा।'

वसुदेव के सामने कितने विघ्न थे ? वे हिम्मत हार सकते

थे। मगर उन्होंने दृढ़ता और धैर्य से काम लिया और सोचा कि पुरुषार्थ करना ही चाहिए। यह सोचकर ऐसे विकराल समय में भी वे कृष्ण को लेकर चले। वसुदेव का वृत्तान्त सुनकर आपको भी पुरुषार्थ करने और धीरज न गँवाने की शिक्षा लेनी चाहिए।

मूसलधार वर्षा हो रही थी। वसुदेव उसी वर्षा में कृष्ण को लेकर चले। देवों ने बालक कृष्ण पर छत्र किया। जेल के फाटक खुले हुए थे और पहरेदार निद्रा में बेहोश पड़े थे। देवकी का सातवाँ गर्भ जानकर कंस ने बहुत कड़ा प्रबन्ध किया था। उसने नगर के द्वारों पर भी बड़े-बड़े ताले डाल दिये थे। नगर के द्वार बन्द थे। फिर भी वसुदेव ने सोचा— बीच से ही लौट जाना उचित नहीं है। द्वार तक पहुँचना चाहिए। जब जेल के फाटक खुल गये तो नगरद्वार के फाटक भी शायद खुल जाएँ।' यह सोचकर वसुदेव फाटक के पास पहुँचे। वहाँ पहुँचकर वे कहने लगे—प्रभो ! मैंने यथाशक्ति अपना कर्त्तव्य पालन करने में कुछ भी कसर नहीं रहने दी। अब मेरी शक्ति जवाब दे रही है।

हरि अंगूठा अड़िया।
ताला तो सब झड़ पड़िया॥

फाटक से कृष्ण का अंगूठा लगते ही सब ताले गिर पड़े और किवाड़ खुल गए। यह अद्भुत घटना देखकर वसुदेव

सोचने लगे—अच्छा हुआ कि मैं बीच से ही नहीं लौट पड़ा। यहाँ तक न आता तो मेरी भयंकर भूल होती। वास्तव में अन्त तक पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। कायर बनकर पुरुषार्थ त्याग देना उचित नहीं है।

राजा उग्रसेन उस समय जाग रहे थे। किवाड़ों की आवाज़ सुनकर उन्होंने सोचा—यह कौन है? मगर उस समय अधिक बातचीत करने का अवकाश ही कहाँ था? अतएव—

उग्रसेन कहे—कोई? तुम बन्धन काटे सोई।
ये सुने वचन सुखदाई,
कहा वेग सिधाओ भाई।

उग्रसेन ने पूछा—'कौन है?' इस प्रश्न के उत्तर में वसुदेव ने कहा—'और कोई नहीं, तुम्हारे बन्धन काटने वाला ही है।' यह सुनकर उग्रसेन प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—मेरे बन्धन काटने वाले का जन्म हो गया है! अच्छा, जल्दी ले जाओ।

वसुदेव आगे चले। यमुना के पास पहुँचे तो देखा कि यमुना में पूर आ रहा है, ऐसे समय नवजात बालक को लेकर यमुना को पार करना कठिन है, फिर भी मुझे अपना काम करना चाहिए। चाहे बह जाऊँ, फिर भी जहाँ तक जा सकता हूँ वहाँ तक तो जाना ही चाहिए। 'कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि।'

इस प्रकार हिम्मत करके वसुदेव जमुना में धँसे। घुटनों तक पानी आ गया। कुछ ही पैर बढ़ाये कि कमर डूब गई और फिर गले तक पानी आ गया। इतने में ही कृष्ण का अंगूठा पानी में लगा और यमुना का पूर उतर गया। वसुदेव सकुशल अपने अभीष्ट स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने कृष्ण को यशोदा के पास रख दिया और यशोदा की कन्या को उठा लिया और जेलखाने की ओर लौट आये। इनकी कार्रवाई होने तक कंस के पक्ष का कोई भी आदमी नहीं जागा। वसुदेव जब सकुशल देवकी के पास लौटे तो देवकी के हर्ष का पार न रहा। उसने अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ पूछा-सब काम हो गया ?

वसुदेव—उसी की शक्ति से कार्य सिद्ध हुआ है।

देवकी—और यह क्या लाये हो ?

वसुदेव—यह कन्या है।

देवकी—पुत्र की रक्षा के लिए क्या इसकी हत्या करवानी होगी ?

वसुदेव—इसकी रक्षा करने वाला भी दूसरा ही है।

यह सब कुछ हो जाने के पश्चात् पहरेदारों की नींद खुली। वे कन्या को लेकर कंस के पास गये। कंस लड़की को देखकर अट्टहास करके बोला—'क्या यही छोकरी मेरा वध करेगी ? वाह रे ज्योतिषशास्त्र !'

कंस ने कन्या का बध नहीं किया। सोचा-यह कन्या मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकती। इसे मारना वृथा है।

आखिर कंस को किसी प्रकार मालूम हो गया कि उसे मारने वाला अर्थात् देवकी का पुत्र नन्द के घर पहुँच गया है। यह जानकर वह पहरेदारों पर अत्यन्त कुपित हुआ। वह कहने लगा-तुम लोग असावधान कैसे रहे? तुम्हारे पहरे में से शत्रु किस प्रकार चला गया?

पहरेदारों ने कहा—हम क्या कर सकते हैं? भवितव्य के आगे किसकी चलती है? जो आपको मारने के लिए ही जनमा है वह कैसे मारा जा सकता है?

कंस को यह सब बातें देख-सुन कर चेतना चाहिए था, पर वह अभिमान में डूबा था। उसने सोचा-मेरा शत्रु उत्पन्न हो गया है तो क्या हुआ! है तो वह नज़दीक ही और अभी बालक है। उसका काम तमाम करना कौन बड़ा काम है। मेरे पास बहुत शक्ति है। मैं उस दुष्ट बालक को समाप्त किये बिना नहीं रहूँगा।

आखिर कंस ने कृष्ण को मारने के अनेक प्रयत्न किये। किन्तु सभी प्रयत्न कृष्ण के अनुकूल और कंस के प्रतिकूल सिद्ध हुए। कृष्ण धर्मभावना से जन्मे थे, इसलिए सभी प्रयत्न निष्फल हुए।

कृष्ण कुछ बड़े हुए। वह बंसी लेकर ग्वालों के साथ गायें चराने जाते। उन्होंने गायें चराकर मानों यह उपदेश दिया है

कि अगर गायों की रक्षा करोगे तो तुम्हारी रक्षा होगी, नहीं तो तुम्हारी भी रक्षा नहीं होगी।

कृष्ण ने तो ऐसा उपदेश दिया है, मगर आज कितने लोग ऐसे मिलेंगे, जो अपने घर में गायें रखते हों ? अगर लोग अपने-अपने घरों में गायें रक्खें और मोल का दूध न खायें तो बहुत कुछ उन्नति हो सकती है। कृष्ण ने गायें चरा-कर गोरक्षा का महत्त्व प्रकट किया था। इसी से उनका नाम 'गोपाल' पड़ा। उन्होंने अपना यह छोटा और सादा नाम रखकर लोगों को सावधान किया है कि यदि तुम बड़े-बड़े कामों के लिए दौड़ोगे और छोटे कामों की उपेक्षा करोगे—गोरक्षा नहीं करोगे-तो तुम्हारी उन्नति नहीं हो सकती। गो की रक्षा करना अपनी शक्ति की रक्षा करना है। मेरे न रहने पर भी अगर तुम लोग मेरे इस आदर्श को अपना कर रहोगे तो तुम्हारी रक्षा होगी, अन्यथा नहीं।

गोरक्षा का महत्त्व कुछ कम नहीं है। आज के बड़े-बड़े विचारक विद्वान् भी अनुभव करते हैं कि ऋद्धि-सिद्धि देने वाली गोमाता ही है। जो चाहें, गौ से ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। कृष्णजी इस तथ्य को भलीभांति जानते थे। यही कारण है कि उन्होंने गायें चराकर संसार को गोरक्षा की महिमा दिखलाई।

गायें चराते समय कृष्ण कितनी सादगी के साथ रहे

होंगे ? आज तो लोगों को सादगी पसंद ही नहीं है। ऐसी दशा में वे गायों का पालन भी कैसे कर सकते हैं ? मगर यह निश्चित है कि जो परोपकार के साथ अपनी रक्षा की भावना रखता है उसे गोरक्षा करनी होगी। आज अधिकांश लोग सीधा घी-दूध खाने में आराम मान रहे हैं। जो घर में गाय, भैंस या बकरी रक्खेगा वह उनके कष्टों को नहीं देख सकेगा। जो सीधा घी-दूध खरीदकर खाता पीता है, उसका ध्यान उनके कष्टों की ओर आकृष्ट नहीं होता। परिणाम यह होता है कि दुधारू जानवरों की स्थिति दिनों दिन खराब होती जाती है और घी-दूध भी दुर्लभ होता जाता है। इस स्थिति से बचने के लिए कृष्ण के जीवन का अनुकरण करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

कृष्ण ने कंबली ओढ़कर और हाथ में बंशी लेकर भारत की शक्ति की रक्षा की थी। यह बात समझने वाले ही समझ सकते हैं। साधारण लोगों का इस ओर लक्ष्य नहीं जाता।

कृष्ण को मारने के सभी उपाय जब निष्फल हुए तो कंस ने सोचा-कृष्ण को किसी बहाने अपने स्थान पर मथुरा में बुलाकर मार डालना चाहिए। नन्द मेरे अधीन है और उसे अपने लड़के को भेजना ही पड़ेगा। इस तरह निर्णय करके उसने कृष्ण को बुलौआ भेजा। नन्द को भलीभाँति मालूम था कि कंस कितना क्रूर है ! वे कृष्ण को स्वयं नहीं भेजना चाहते

थे और गोपियों ने भी उन्हें रोकने की बहुत कोशिश की। मगर कृष्ण नहीं माने। वह कंस का निमंत्रण पाकर मथुरा पहुँचे। मार्ग में भी उन्होंने बड़े-बड़े काम किये। कृष्ण को देखकर कंस कहने लगा—बस, इसी लड़के का नाश करना है! यही मेरा वध करने वाला कहा जाता है। ऐसा कहता हुआ वह कृष्ण को मारने के लिए दौड़ा। लोग नगरा उठे और हाहाकार करने लगे। लेकिन कृष्ण ने उसे पटककर यमधाम पहुँचा दिया।

कृष्ण का यह अद्भुत बल देखकर सज्जन प्रसन्न हुए और दुर्जन भयभीत हुए। सज्जनों ने कृष्ण का सन्मान किया और उनकी प्रशंसा की। उन्होंने कहा-अच्छा हुआ जो कंस को आपने मार डाला। अब आप ही मथुरा के राजा बन जाइए। मगर कृष्ण ने उत्तर दिया-मैं राजा नहीं बन सकता। राजा बनने के लिए उग्रसेन को बुलाओ।

कृष्ण चाहते तो स्वयं राजा बन सकते थे। उग्रसेन ने बहुत कहा कि यह राज्य आपको ही स्वीकार करना चाहिए। आपके पुरुषार्थ से ही इसकी प्राप्ति हुई है, अतः आप ही इसके अधिकारी हैं। मगर निस्पृह कृष्ण ने यही उत्तर दिया-यह राज्य आप ही के अधिकार का है और आपको ही इसे स्वीकार करना चाहिए।

आखिर उग्रसेन राजा हुए। जीवयशा लाल-पीली होकर कुछ बोलने लगी, लेकिन उग्रसेन की डाट फटकार से क्रुद्ध होकर

वह अपने बाप जरासंध के घर चली गई। जरासंध ने कंसवध का वृत्तान्त सुना तो बहुत कुपित हुआ। यद्यपि उसे समझना चाहिए था कि जिन्होंने कंस जैसे प्रचण्ड राजा को अनायास ही मार डाला है, उनका सामना करना भयानक है; लेकिन वह नहीं समझा और उसने कृष्ण पर चढ़ाई कर दी। फलस्वरूप उसे भी प्राणों से हाथ धोने पड़े। शिशुपाल भी बड़ा अहंकारी था। वह समझता था कि हम ही रत्नभोक्ता हैं और हमारे सामने दूसरा कोई कुछ नहीं है। उसका भी विनाश हुआ। दुर्योधन भी द्रौपदी की आग में भस्म हुआ। कालीकुंवर भी काल का ग्रास बना। काली नाग भी नाथा गया। इस प्रकार अधर्म का प्रतिनिधित्व करने वाली तमाम प्रधान शक्तियों का अंत हो गया। कृष्ण ने सब राजाओं का संगठन करके भारत को एक राष्ट्र बनाने का प्रशस्त प्रयत्न किया। जब राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं तो शक्ति के भी टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और फलस्वरूप निर्बलता बढ़ जाती है। ऐसा सोचकर कृष्ण ने सब छोटे-छोटे राष्ट्रों का संगठन कर डाला।

राजनीतिज्ञ लोग अपना स्वार्थ साधने के लिए और अपने विरोधियों को विनष्ट करने के लिए भी गुट बना लेते हैं, तो धर्म-कार्य के लिए संगठन की आवश्यकता क्यों न होगी? मैंने अजमेर-साधुसम्मेलन में कहा था कि सम्प्रदाएँ अलग-अलग रहकर धर्म और समाज का हित नहीं कर सकतीं।

इसलिए अभिमान छोड़कर सब मिल जाओ। ऐसा करने पर ही धर्म की उन्नति हो सकती है।

कृष्ण ने अधर्म की शक्ति नष्ट कर दी और प्रजा को कष्ट से मुक्त कर दिया। समस्त प्रजा सुख और शान्ति का अनुभव करने लगी। सब ने अपने आपको सुरक्षित समझा।

कृष्ण-जन्म की बात हजारों वर्ष पहले की है। कृष्ण के चरित सुनकर हमें अपनी आत्मा में कृष्ण को जन्माना चाहिए। आत्मा में इस समय काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरता आदि विकारों का राज्य है। यह सब आत्मा की शक्ति के विकास को रोकने वाले दुर्गुण हैं। यह अधर्म की शक्तियां हैं। जिस प्रकार कृष्ण ने अधर्म की शक्तियों का नाश किया था, उसी प्रकार आपको भी अपने अन्तरात्मा में विद्यमान पूर्वोक्त अधर्म-शक्तियों का विनाश करना चाहिए। 'कृष्ण मथुरा में जन्मे और गोकुल में बड़े हुए' इस आशय के गीत गा लेने मात्र से कल्याण नहीं हो सकता। कल्याण तभी होगा जब आप आत्मा के शत्रुओं का विनाश करके दूसरों की भलाई में अपनी भलाई समझेंगे! इसी अर्थ में आप कृष्णचरित को आदर्श मानेंगे तो आपका कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा।



वह अपने बाप जरासंध के घर चली गई। जरासंध ने कंसवध का वृत्तान्त सुना तो बहुत कुपित हुआ। यद्यपि उसे समझना चाहिए था कि जिन्होंने कंस जैसे प्रचण्ड राजा को अनायास ही मार डाला है, उनका सामना करना भयानक है; लेकिन वह नहीं समझा और उसने कृष्ण पर चढ़ाई कर दी। फलस्वरूप उसे भी प्राणों से हाथ धोने पड़े। शिशुपाल भी बड़ा अहंकारी था। वह समझता था कि हम ही रत्नभोक्ता हैं और हमारे सामने दूसरा कोई कुछ नहीं है। उसका भी विनाश हुआ। दुर्योधन भी द्रौपदी की आग में भस्म हुआ। कालीकुंवर भी काल का ग्रास बना। काली नाग भी नाथा गया। इस प्रकार अधर्म का प्रतिनिधित्व करने वाली तमाम प्रधान शक्तियों का अंत हो गया। कृष्ण ने सब राजाओं का संगठन करके भारत को एक राष्ट्र बनाने का प्रशस्त प्रयत्न किया। जब राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं तो शक्ति के भी टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और फलस्वरूप निर्बलता बढ़ जाती है। ऐसा सोचकर कृष्ण ने सब छोटे-छोटे राष्ट्रों का संगठन कर डाला।

राजनीतिज्ञ लोग अपना स्वार्थ साधने के लिए और अपने विरोधियों को विनष्ट करने के लिए भी गुट बना लेते हैं, तो धर्म-कार्य के लिए संगठन की आवश्यकता क्यों न होगी? मैंने अजमेर-साधुसम्मेलन में कहा था कि सम्प्रदाएँ अलग-अलग रहकर धर्म और समाज का हित नहीं कर सकतीं।

आदिनाथ



श्री आदीश्वर स्वामी हो,
प्रणमूं सिर नामी तुम भणी।

यह भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना है। आज अनायास ही यह सुयोग आ गया है कि आज ही पर्युषण पर्व का प्रारंभ हुआ है और आज ही भगवान् ऋषभदेव की प्रार्थना बोलने का क्रम आया है।

भारत के शास्त्रों और धर्मों में भगवान् ऋषभदेव का स्थान बहुत ऊँचा है। क्या जैन और क्या हिन्दू, सभी भगवान् ऋषभदेव को आदर की दृष्टि से देखते हैं। अगर कदाचित् समस्त हिन्दूजाति एक ही झंडे के नीचे आना चाहे और यह निर्णय होने लगे कि किस देव को मानें तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान् ऋषभदेव को ही अपना आराध्य देव मानने के पक्ष में निर्णय होगा।

भगवान् ऋषभदेव धर्म के आदि संस्थापक और जगत् को शान्ति देने वाले सर्वप्रथम तीर्थंकर हुए हैं। इस कारण आर्य देश में भगवान् ऋषभदेव का स्थान सब से ऊँचा है।

यद्यपि भगवान् ऋषभदेव का स्थान सर्वोच्च होने के और भी कारण हैं, लेकिन एक कारण यह भी है कि जैनशास्त्र भगवान् ऋषभदेव को धर्म की आदि करने वाले मानते हैं। जैनशास्त्रों का कथन है कि जब अठारह कोड़ा-कोड़ि सागर से धर्म का विरह हो रहा था और यह पृथ्वी जब धर्म-रहित हो रही थी, उस समय भगवान् ऋषभदेव ने धर्म का उद्धार किया था। यों तो धर्म अनादि है परन्तु जब वह अप्रसिद्ध हो जाता है तब कोई न कोई महापुरुष धर्म को प्रसिद्धि में लाते हैं। और जो महापुरुष ऐसा करते हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणी युग के ऐसे प्रथम तीर्थंकर थे।

संक्षेप में यहाँ भगवान् ऋषभदेव का चरित्र समझना उपयोगी होगा। जिस समय यह आर्य क्षेत्र धर्म के विरह के कारण धर्मशून्य हो रहा था, कर्म-भूमि न रहकर भोगभूमि हो गया था, यहाँ युगलियों का निवास था और कल्पवृक्षों से उन्हें आवश्यक सामग्री मिलती थी, उस समय भगवान् ऋषभदेव ने जगत् की रक्षा की थी। मगर भगवान् के समय में ही भोगभूमि का युग समाप्त होने लगा। अतः कल्पवृक्षों से जो कुछ मिलता था, उसका मिलना बन्द हो गया। उस समय की जनता जीवन-निर्वाह का दूसरा कोई उपाय नहीं जानती थी। अतएव लोग बड़े संकट में पड़ गये थे। जिनसे मिलता हो उनसे मिलना बंद हो जाय और स्वयं कुछ करना

न आता हो तो ऐसे समय में स्थिति गंभीर हो जाना स्वाभाविक है। तदनुसार उस युग के लोग गंभीर संकट में पड़ गए। क्या करें और कहाँ जाएँ, किसी को सूझता नहीं था। सब मानो भूलभुलैया में पड़ गए थे।

आखिर घबराकर लोग तत्कालीन कुलगुरु राजा नाभि के पास पहुँचे। नाभि वास्तव में राजा नहीं थे। उस समय राज्यव्यवस्था का जन्म ही नहीं हुआ था। फिर भी वे उस समय की प्रजा के प्रधान पुरुष थे। वही लोगों के झगड़ों का निपटारा किया करते थे। समस्त प्रजा उनकी आज्ञा शिरोधार्य मानती थी। अतएव इस संकट के समय लोग उन्हीं के पास पहुँचे। उन्होंने पुकार की—इस समय हम सब अपूर्व और भयंकर संकट में पड़े हैं। आप ही इस संकट से बचने का मार्ग दिखाइए। और वस्तुओं की बात तो दूर रही, भोजन और वस्त्र भी हमें पूरा नहीं मिल पाता। जान पड़ता है, कल्पवृक्ष कंजूस हो गये हैं। वे बहुत थोड़ी वस्तु देते हैं। लेने वाले बहुत हैं। ऐसी दशा में सभी को कष्ट होता है और फिर आपस में झगड़ा भी होता है। कृपा कर किसी भी उपाय से आप हमारा कष्ट दूर कीजिए।

ग्रन्थों में कहा गया है कि लोगों की यह पुकार सुनकर नाभि राजा भी विचार में पड़ गये कि इस समय मैं इन्हें क्या मार्ग बतलाऊँ? अन्त में उन्होंने लोगों को ऋषभदेव के पास

जाने का परामर्श किया। उन्होंने कहा—यह तुम्हारे कष्ट मिटाने का कोई उपाय सुझा सकेंगे।

सब लोग भगवान् ऋषभदेव के पास पहुंचे। उन्होंने फिर अपनी कष्टकथा दोहराई। लोगों का कथन सुनकर भगवान् ने उत्तर दिया—'पिताजी की आज्ञा के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता।'

लोगों ने कहा—पिताजी आपके पास भेजते हैं और आप पिताजी के पास भेज रहे हैं। ऐसी दशा में हम लोग कहाँ जाएँ? क्या करें? या प्राण दे दें?

भगवान्—क्या पिताजी ने तुम्हें मेरे पास आने के लिए कहा है?

लोग—जी हाँ। हम पिता को अपना राजा और नियामक मानते हैं। ऐसी दशा में हम उनके पास कैसे न जाते? हम लोग पहले उन्हीं के पास गये थे। उन्होंने आपके पास जाने के लिए कहा। तब आपके पास आये हैं।

आप लोग ऋषभदेव को भगवान् और अपना नियामक मानते हैं। लेकिन जिस मर्यादा का पालन भगवान् ने किया, उस मर्यादा का पालन क्या आपको नहीं करना चाहिए? व्यावहारिक कार्य में भगवान् ने भी अपने पिता को आगे रक्खा, तो क्या आपके लिए यह उचित नहीं है कि आप भी व्यावहारिक कार्यों में अपने पिता को आगे रक्खें। आपके लिए यह शिक्षा दी गई है—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव ।

पिता ने आपको जन्म दिया है और पिता आपका नियामक है, इसलिए व्यावहारिक कार्यों में पिता को आगे रखना ही उचित है; फिर आपमें कैसी भी शक्ति या बुद्धि क्यों न हो।

मगर आजकल उलटी हवा वह रही है। आज के बहुतेरे नवयुवक अपनी युवावस्था के जोश में आकर पिता की अवज्ञा करने से भी नहीं चूकते। वे कहने लगते हैं—'तुम क्या जानो? तुम पुराने ढच्चर हो। हम पढ़े-लिखे हैं।' पुत्र का पिता को इस प्रकार कहना कितना अनुचित है!

पिता ने जन्म देकर स्वार्थत्याग कर तुम्हारी रक्षा की है, पालन-पोषण किया है। तुम्हारे लिए उनके अन्तःकरण में सदैव शुभ कामना रहती है। सभी ग्रन्थ इस बात का समर्थन करते हैं। सभी को यह बात स्वीकार है कि माता-पिता की अवज्ञा नहीं करना चाहिए।

दूसरी ओर पिता को भी यह विचार रखना चाहिए कि जो काम हम स्वयं नहीं कर सकते और पुत्र कर सकता है, उस काम में सिरपच्ची करना योग्य नहीं है। वह काम पुत्र को ही सौंप देना उचित है। ऐसा न करने से कार्य की हानि होती है। कभी-कभी पिता अपने पुत्र को एकदम बुद्धिहीन या सुकुमार समझकर उससे कोई काम नहीं लेते। ऐसा करना भी योग्य नहीं। काम लेने से ही पुत्र को काम करने

का ढंग आता है। उससे काम ही नहीं लिया जायगा तो उसमें कार्यकुशलता किस प्रकार उत्पन्न होगी ?

नाभि राजा ने जनता का दुःख मिटाने का कार्य भगवान् ऋषभदेव को सौंप दिया। इस प्रकार पुत्र का कर्त्तव्य पुत्र को समझना चाहिए और पिता का कर्त्तव्य पिता को समझना चाहिए। दोनों अपने-अपने कर्त्तव्य को समझकर उसका पालन करें। लेकिन दोनों में से अगर कोई भी एक अपने कर्त्तव्य से च्युत होता हो उसका अनुकरण दूसरे को नहीं करना चाहिए। अनुकरण गुण का होना चाहिए, दोष का नहीं।

जिस प्रकार कल्पवृक्ष सब को फल देता है, उसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव का चरित सब को शिक्षा देता है।

भगवान् ने आये हुए लोगों से कहा—जब पिता ने तुम लोगों से कहा है तो तुम्हारा दुःख मुझे मिटाना ही चाहिए। इस विषय में मेरा यह कहना है—अब भोगभूमि नहीं रही। कर्मभूमि हो गई है। अब परावलम्बी न रहकर स्वावलम्बी बनना होगा और स्वावलम्बी बनने के लिए कर्म करना होगा।

भगवान् इतना कहकर ही नहीं रह गए। उन्होंने सोचा कि कोई भी कला शब्दों द्वारा न सिखाई जा सकती है, न सीखी जा सकती है। कला को सीखने और सिखाने के लिए प्रयोग की आवश्यकता होती है। अतएव जीवननिर्वाह के लिए जिन कलाओं का शिक्षण लोगों को देना है, उन्हें स्वयं

करके दिखाना उचित होगा। ऐसा सोचकर भगवान् पहले कृषक बने।

आज बहुत से लोग कृषि को हल्का धंधा मानते हैं और कृषकों को भी तुच्छ समझते हैं। उन्हें अपनी श्रेणी से भिन्न हल्की श्रेणी के मानते हैं। लेकिन सब से पहले तो भगवान् वृषभ ही कृषक बने थे। क्या आप उन्हें हल्की श्रेणी का कह सकते हैं ? कौन विवेकशाली ऐसा कहीं कहेगा कि भगवान् की लोगों पर अपूर्व करुणा थी ! जो लोग कृषकों को हल्का कहते हैं, क्या वे उनके द्वारा पैदा किये हुए अन्न को खाना छोड़ सकते हैं ? कृषकों को हल्का कहना या मानना वैसा ही अज्ञान है, जैसा जिस पेड़ की छाया में बैठे हों उसी को काटना। यह कितना तुच्छ कार्य है ! कितनी कृतघ्नता है !

सब लोगों का जीवन कृषि के सहारे ही टिका हुआ है। इसलिए सब को मार्ग बतलाने वाले गांधीजी नगर छोड़ कर ग्राम में रहे हैं और कृषि करते हैं। भगवान् ऋषभदेव ने कृषि करने का उपदेश ही नहीं दिया वरन् स्वयं हल हाँका और लोगों को खेती करना सिखलाया। जैनशास्त्रानुसार सब से पहले भगवान् ऋषभदेव ने ही हाथ में हल लेकर चलाया था और भूमि में बीज बोया था। उसके पश्चात् भगवान् को देखकर दूसरे लोगों ने भी यह कार्य किया और इस प्रकार कृषिकला का जन्म हुआ।

हल हाँकना कोई बुरा काम नहीं है। कुरुक्षेत्र के विषय में कहा जाता है कि वहाँ राजा कुरु के क्षेत्र (खेत) होने के कारण ही उसका नाम कुरुक्षेत्र पड़ा है। जब राजा-महाराजा भी खेती करते थे तब दूसरों के लिए तो कहना ही क्या है ? मगर आज अज्ञान के कारण लोग इसे हल्का धंधा मानते हैं और कृषक को तुच्छ निगाह से देखते हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने लोगों को खेती करना सिखलाया, अन्न-संग्रह करना सिखलाया, अन्न की रक्षा करने की विधि बतलाई और उसे पकाकर खाने की तरकीब सिखलाई। भगवान् ने कहा—इस कला के सहारे तुम लोग स्वतंत्र जीवन बिता सकते हो। दूसरे के सहारे रहने वाला स्वतंत्र नहीं, परतंत्र होता है। इस तरह भगवान् ने पुरुषों की बहत्तर कलाओं का, स्त्रियों की चौसठ कलाओं का और सब तरह के विज्ञान का आविष्कार किया। उन्होंने अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दो कन्याओं में से एक अक्षरज्ञान सिखलाया और दूसरी को अंकज्ञान की शिक्षा दी। यह दोनों विद्याएँ भगवान् की कन्याओं के नाम से ही प्रसिद्ध हुईं। लिपि ब्राह्मी के नाम से प्रसिद्ध हुई और गणित सुन्दरी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लिपि आदि में समय-समय पर परिवर्त्तन तो होता रहा है, लेकिन उसके मूल आविष्कारक भगवान् ऋषभदेव ही हैं।

भगवान् ने जो आविष्कार किये, उनके सहारे लोग स्वाव-

लम्बी बनकर रहने लगे। अब आप विचार करें कि भगवान् ने जनता के लिए यह अच्छा काम किया या बुरा किया ? भगवान् महान् और गंभीर आशय वाले थे। उनकी यह कामना नहीं थी कि आप बड़े रहकर दूसरों को छोटा रक्खें या आप अच्छे रहकर दूसरों को बुरा रक्खें। भगवान् सभी की आत्मा का कल्याण चाहते थे। घर बनाने से पहले नींव को मज़बूत बनाने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार आत्म कल्याण के लिए पहले नैतिकता की आवश्यकता होती है। अतएव भगवान् ने पहले लोगों का नैतिक पाया मज़बूत किया। नैतिक पाया मज़बूत करके भगवान् ने विचार किया-अगर जनता को यहीं तक रहने दिया जायगा और उसे आत्मकल्याण का मार्ग नहीं बतलाया जायगा तो ठीक न होगा। अतएव उन्होंने जनता को जड़ और चेतन का भी बोध प्रदान करने और वास्तविक-वर्त्तमान जीवन से परे की—शान्ति का मार्ग बतलाने का निश्चय किया। भगवान् ने संसार को तत्वज्ञान देने की इच्छा की। तत्वज्ञान की शिक्षा उसी समय ठीक तौर से दी जा सकती है, जब जीवन की ओर से शान्ति हो। इस शान्ति का प्रसार नैतिक शिक्षा के द्वारा भगवान् कर ही चुके थे।

जनता को तत्वज्ञान सिखलाने के लिए भगवान् ने माता-पिता से आज्ञा माँगी। माताने कहा—'हे पुत्र ! तुम सब कुछ करने योग्य हो। तुमने जनता को बहुत शान्ति दी है। अब

जन-कल्याण के लिए जो कुछ करना शेष रहा हो, प्रसन्नता के साथ करो।

भगवान् ने माता-पिता से कहा-यह आपकी कृपा है जो आप ऐसा करते हैं। जो कुछ हुआ है, आपकी ही कृपा से हुआ है। अब भी आपकी कृपा है तो मैं आगे भी कुछ करूँगा।

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने भी माता-पिता की कृपा चाही थी। इस बात का विचार करके आप अपने विषय में सोचिए। आप कितने भी पढ़े-गुने क्यों न हों, आपका बुद्धि-वैभव कितना ही विशाल क्यों न हो, समाज में आपकी कितनी ही प्रतिष्ठा क्यों न हो, फिर माता-पिता के समक्ष विनम्रता धारण करना आपका कर्त्तव्य है। माता-पिता के प्रति अगर आप विनीत हैं तो आपके सद्‌गुणों का विकास ही होगा। ऐसा करने से आपकी प्रतिष्ठा में वृद्धि ही होगी-ह्रास होने की तो संभावना ही नहीं की जा सकती। अगर आप माता-पिता का आदर करेंगे तो निश्चय समझो कि लोग आपका भी आदर करेंगे।

जो अविनीत है, जो माता-पिता की अवज्ञा करता है और जो माता-पिता की इच्छा एवं आज्ञा के विरुद्ध चलता है वह कुल के लिए अंगार है। इसीलिए वह अविनीत कहलाता है। इसके विरुद्ध विनीत का अर्थ पुरुषोत्तम या विष्णु है। जो कुल, समाज, धर्म और माता-पिता के प्रति विनीत होकर

रहता है, उन्हें पूजनीय मानता है; उनके वचनों को आदरणीय समझता है, वह वास्तव में पुरुषोत्तम है।

कहा जा सकता है कि किसी प्रकार का सामाजिक सुधार करना आवश्यक हो और बड़े-बूढ़े लोग अपने पुराने संस्कारों के कारण उस सुधार के विरोधी हों तो ऐसी दशा में क्या करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आपको जो सुधार करना है वह विनयपूर्वक करना है या अविनयपूर्वक करना है? आप जो सुधार करना चाहते हैं, उससे बड़े-बूढ़े अगर सहमत न हो सकते हों तो समझ लेना चाहिए कि अभी सुधार का उपयुक्त समय नहीं आया है। अतएव इस कारण अविनीत होकर उनकी अवज्ञा करना उचित नहीं है। किसी आम के वृक्ष में अगर जल्दी फल नहीं लगते तो क्या उसे काट डाला जाता है? उसके विषय में यह सोचकर धैर्य रक्खा जाता है कि आज नहीं तो फिर कभी न कभी फल लगेंगे ही। अतएव सुधार के लिए सहमति न मिलने पर धैर्य रखना चाहिए। अविनीत नहीं होना चाहिए।

भगवान् के माता-पिता ने कहा—पुत्र, तुम बुद्धिमान् और सब लोगों के नियामक हो। जैसा चाहो वैसा करो। यह तुम्हारी विनीतता है कि तुम हम लोगों से पूछते हो।

महापुरुषों का चरित्र ऐसा है कि प्रत्येक व्यक्ति उसका आचरण कर सकता है। वह ऐसा नहीं हो सकता कि कल्पना में

ही न आ सकता हो। कुछ लोगों ने उनको आध्यात्मिकता के मार्ग में साधारण जनता से भिन्न बतला दिया है और उनके चरित्र में अत्युक्ति कर दी है। लेकिन वास्तव में महापुरुषों का चरित्र इतना सरल और सादा होता है कि जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति आचरण कर सकता है।

भगवान् ऋषभदेव ने माता-पिता की आज्ञा लेकर दीक्षा लेने की तैयारी की। उनके साथ चार हजार राजपुत्र दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए। भगवान् भरत को विनीता नगरी का और बाहुबली को तक्षशिला का राज्य सौंपा। शेष पुत्रों को भी यथोचित राज्य दिया। यह करके भगवान् ने पुत्रों को उपदेश दिया कि तुम लोग न्याय-नीति से राज्य करना। यह न हो कि विपरीत मार्ग पकड़ लो।

प्रत्येक प्रारंभिक कार्य में कष्ट होता ही है। श्रीहेमचंद भाई ने उदयपुर में अपने भाषण में कहा था कि अब तो एंजिन बनाना सहल हो गया है, लेकिन जब पहले-पहल बनाया गया था तब बहुत कठिनाई हुई थी। जुति हुई ज़मीन में खेती करना कठिन नहीं है; अलबत्ता पड़ी हुई ज़मीन जोतकर खेती करना कठिन है। भगवान् सब से पहले संयम लेने को तैयार हुए थे। उनसे पहले किसी ने संयम धारण नहीं किया था। ऐसी स्थिति में संयम के मार्ग में कठिनाई होना स्वाभाविक ही था। इस बात को दृष्टि में रखकर भरत ने संयम लेने को

तैयार हुए चार हजार राजपुत्रों से कहा-संयम धारण करने का कार्य अभी प्रारंभिक है। अतएव आप लोगों को इससे बड़ा कष्ट होगा! भगवान् जब संयम का मार्ग साफ कर दें तब आप दीक्षा लेना। भरत के इस प्रकार समझाने पर भी वे लोग नहीं माने। उन्होंने कहा—'जब भगवान् कष्ट उठाएँगे तो हम लोग क्यों न उठाएँगे? अतएव हम भगवान् के साथ जाएँगे। आपकी इच्छा है तो आप घर पर ही रहिए।'

यह उत्तर सुनकर भरत चुप हो गये। बड़े लोग किसी बात को एक बार कहते हैं। अतएव भरत ने बार-बार नहीं कहा। उन्होंने मन में सोचा—प्रारंभिक उत्साह ऐसा ही होता है।

भगवान् दीक्षा लेकर वहाँ से चल दिये। उस समय उनकी माता ने कहा—यह क्या! घर का मार्ग भूल रहे हो? घर की ओर क्यों नहीं चलते?

माता के यह कहने पर भी भगवान् मौन रहे। तब इन्द्र ने माता से कहा—अब भगवान् घर नहीं लौट सकते। वे लोगों को तत्त्वज्ञान सिखाएँगे। संयम का मार्ग ऐसा ही है।

माता ने प्रश्न किया—तो यह कब घर लौटेंगे?

इन्द्र ने उत्तर दिया—एक हजार वर्ष बाद।

माता को संख्या का पता नहीं था। उन्होंने सोचा-उँह!

एक हजार वर्ष का क्या है ! फिर माता ने प्रश्न किया-ऋषभ बोलते क्यों नहीं हैं ?

इन्द्र ने कहा—तत्त्वज्ञान सिखाने का यही मार्ग है।

माता—इनके बिना तो घर सूना-सूना लगेगा

इन्द्र—आपकी आज्ञा लेकर ही तो भगवान् निकले हैं।

माता—मुझे क्या पता था कि यह घर त्याग कर जाएँगे ! लेकिन मुझे विश्वास है कि ऋषभ वही करेगा जिससे सब का कल्याण होता होगा। मैं इनके काम में विघ्न नहीं डालना चाहती।

भगवान् चल दिये। माता घर लौट तो आई पर उन्हें सारा घर सूना दिखाई देने लगा। ऋषभ के बिना उनके लिए सारा संसार सूना था। माता की यह अवस्था अत्यन्त गहरे स्नेह से परिपूर्ण थी। उस अवस्था के आधार पर भक्ति का ज्ञान लिया जा सकता है। यद्यपि माता की सेवा करने के लिए भरत जैसा पौत्र उनके पास मौजूद था और भरत की रानियाँ भी उनकी सेवा करती थीं, फिर भी ऋषभ के बिना उन्हें सर्वत्र सुनसान दिखाई देता था। अतएव रात-दिन ऋषभ का ही स्मरण आता रहता था। उनकी आँखों के आगे ऋषभदेव की ही आकृति भूला करती थी। उन्हें कहीं कुछ भी अच्छा न लगता। भक्ति का मार्ग ऐसा ही होता है।

आप लोग दुःख के समय तो परमात्मा को याद करते हैं

मगर सुख के समय भूल जाते हैं। अगर आप सुख और दुःख—दोनों के समय परमात्मा का स्मरण करें तो क्या परमात्मा की प्राप्ति न हो ?

उधर भगवान् मौनपूर्वक भिक्षा के लिए घर-घर घूमते। लोगों के घर अन्न की कमी नहीं थी और हृदय में भक्ति की भी कमी नहीं थी, लेकिन लोगों को भोजन देने की विधि मालूम नहीं थी। भगवान् मुख से कुछ बोलते नहीं थे और लोग देने की विधि जानते नहीं थे। अतएव भगवान् और उनके साथियों के दिन भूख ही भूख में निकलने लगे। एक दिन बीता, दो दिन बीते और इसी प्रकार ज्यादा दिन बीतने लगे। भगवान् के चार हजार साथी भूख के दुःख से बुरी तरह घबड़ा उठे। वे लोग आपस में सोचने-लगे हम लोग भूख के मारे मर रहे हैं और भगवान् कुछ बोलते नहीं हैं। लौटकर घर चलते हैं तो भरत कहेंगे कि मैंने पहले ही रोका इस तरह उनका उपालंभ सुनना पड़ेगा। यह तो बड़ा ही कष्ट आ पड़ा है !

'अन्नं वै प्राणा।' अन्न के बिना मनुष्य घबरा जाता है। यही कारण है कि नौ पुण्यों में अन्नपुण्य को पहला स्थान दिया गया है।

भगवान् के चार हजार साथियों ने घबराकर यह निश्चय किया कि हम लोगों को न तो भगवान् के साथ रहना चाहिए

और न घर ही लौटना चाहिए। हमें बीच का कोई मार्ग अख्तियार करना चाहिए। इस तरह निश्चय करके उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ दिया और जिसे जो अनुकूल लगा, उसने वही रास्ता पकड़ लिया। ग्रन्थों में कहा है कि उसी समय से नाना मत-मतान्तरों का आविर्भाव हुआ। भगवान् के साथी भगवान् से अलग होकर कन्द, मूल, फल, फूल आदि खाकर अपने-अपने मार्ग के प्रवर्त्तक बने।

उधर भगवान् घर-घर घूमते थे। भगवान् के पहुँचने पर कोई कहता—प्रभो ! हम हाथी पर बैठें और आप पैदल चलें, यह ठीक नहीं है। अतएव कृपाकर आप यह हाथी लीजिए और हमें अनुगृहीत कीजिए। इसी तरह कोई कुछ देना चाहता और कोई कुछ देना चाहता था। भगवान् लोगों की श्रद्धा देखकर, मौनभाव से मुस्कराकर आगे चल देते थे। तब लोग अंदाज़ लगाते—हमने भूल की है। भगवान् इतना बड़ा हाथी लेकर क्या करते? उसे कहाँ रखते और क्या खिलाते? उन्हें हाथी की आवश्यकता होती तो घर से ही हाथी लेकर क्यों न निकलते ? मालूम होता है कि भगवान् ने हाथी का त्याग कर दिया है।

दूसरा कोई भगवान् के सामने उत्तम घोड़ा पेश करता। विनयपूर्वक वे कहते—नाथ ! यह बहुत उत्तम घोड़ा है। इसे स्वीकार कीजिए। आपको इसकी सार-संभाल नहीं करनी

पड़ेगी। हम साईस बनकर आपकी सेवा में रहेंगे। लेकिन भगवान् घोड़ा छोड़कर जब आगे चल देते तो लोग समझते कि भगवान् ने घोड़ा भी त्याग दिया है!

इस प्रकार भगवान् स्वयं कष्ट सहन करके लोगों को विधि के मार्ग के समीप लाते जा रहे थे। प्रारंभिक कार्य में इस प्रकार के कष्ट सहने ही पड़ते हैं।

कभी-कभी लोग सोचते-भगवान् के पास सेविका नहीं है। एक सेविका उन्हें देनी चाहिए। यह सोचकर लोग अपनी कन्या को सजाकर उससे कहते—'कन्ये, हम तुझे भगवान् के लिए समर्पित करते हैं। तेरा सौभाग्य है कि तुझे भगवान् की सेवा मिल रही है। तू अच्छी तरह भगवान् की सेवा करना।' कौन कन्या भगवान् की सेवा के लिए तैयार न हो जाती? अतएव लोग अपनी कन्या को समझाकर तैयार रखते और जब भगवान् भिक्षा के लिए आते तो वे कन्या को आगे करके कहते—'प्रभो! यह कन्या आपकी सेवा में समर्पित है। आप इसे स्वीकार कीजिए। यह आपकी भलीभाँति सेवा करेगी। कोई कष्ट आपको नहीं होने देगी। यह नम्र और सुलक्षण है। इसके भरण-पोषण की चिन्ता आपको नहीं करनी पड़ेगी।' मगर भगवान् क्या कन्या ले सकते थे? वे मन्द स्मित के साथ आगे चल देते। तब लोग सोचते—हम भूल कर रहे हैं। भगवान् को सेविका की आवश्यकता नहीं

है। सेविका की आवश्यकता होती तो वे सुनन्दा और सुमंगला को ही क्यों छोड़ते ?

लोगों के घर में पर्याप्त अन्न था। मगर लोग सोचते— भगवान् को अन्न जैसी साधारण वस्तु क्या देना ! अतएव कोई-कोई हीरा, पन्ना, सोना आदि देने को तैयार होते। पर भगवान् जब ऐसी कोई भी चीज़ ग्रहण न करते तो लोग समझ जाते कि भगवान् इन सब वस्तुओं के त्यागी है।

इस प्रकार निराहार रहते भगवान् को एक वर्ष वीत गया। यद्यपि भगवान् का शरीर सुदृढ और बलिष्ठ था। फिर भी अन्न के अभाव में शरीर का कुम्हला जाना स्वाभाविक था। सर्वत्र यह बात प्रसिद्ध हो गई कि भगवान् कुम्हला रहे हैं। सभी लोग इस वात से चिन्तित हुए मगर आहार देने की वात किसी को नहीं सूझी।

एक वार विचरते-विचरते भगवान् तक्षशिला पहुँचे। वहां ध्यान लगाकर खड़े रहे। वाहुवली को भगवान् के पदार्पण का वृत्तान्त विदित हुआ। उस समय संध्या हो चली थी। उन्होंने सोचा-अब शाम हो गई। प्रातःकाल होते ही पूरी तैयारी के साथ भगवान् के दर्शन करने चलना ठीक होगा। लेकिन प्रातःकाल उन्हें मालूम हुआ कि भगवान् अन्यत्र विहार कर गये हैं। यह जान कर वाहुवली पश्चात्ताप करने लगे कि मैं धूमधाम और प्रसिद्धि चाहता था।

मेरे हृदय में सच्ची भावना न होने के कारण ही भगवान् विहार कर गये और मैं उनके दर्शन से वंचित रह गया।

आज भी धूमधाम तो बहुत की जाती है, लेकिन भगवान् का हार्दिक सत्कार कम किया जाता है।

विहार करते-करते भगवान् गजपुर पधारे। वहां भगवान् के प्रपौत्र और बाहुबली के पौत्र राजा श्रेयांसकुमार राज्य करते थे। उनके पिता राज्यकार्य से निवृत्त हो गये थे। पिता जब त्याग का आदर्श रखता है तो पुत्र भी त्याग सीखता है। और जब पिता ही कनक-कामिनी के लिए हाय-हाय करता हुआ मरता है तो सन्तान भी यही शिक्षा लेती है। ऐसी स्थिति में संतान में त्याग भावना आना बहुत कठिन है।

श्रेयांसकुमार ने स्वप्न में देखा सुमेरु पर काठ लगा था सो श्रेयांस ने दुग्ध से धो कर साफ कर दिया। कल्पवृक्ष सूखा जा रहा है और मैंने उसे सींचा है। दूसरी ओर श्रेयांसकुमार के पिता ने यह स्वप्न देखा कि एक महापुरुष को शत्रुओं ने घेर लिया है; लेकिन श्रेयांसकुमार ने उन्हें भगाकर महापुरुष की रक्षा की है। तीसरे वहां के नगरसेठ को स्वप्न आया। उसने स्वप्न में देखा कि सूर्य की सब किरणें गिर पड़ी हैं और श्रेयांसकुमार ने उन्हें फिर सूर्य में लगा दिया है। प्रातःकाल तीनों एक जगह बैठे और सोचने लगे

कि इन स्वप्नों का क्या अर्थ है ? स्पष्ट रूप से तो कोई बात समझ में नहीं आई, मगर अन्त में सब लोग इस निर्णय पर आये कि श्रेयांसकुमार के हाथ से कोई महान् और श्रेष्ठ कार्य होगा।

श्रेयांसकुमार गोखड़े (गवाक्ष) में बैठे थे। उसी समय उन्होंने भगवान् को आते देखा। भगवान् को आते देखकर वह सोचने लगे-स्वप्न क्या यही फल जान पड़ता है। भगवान् किस प्रकार सूख रहे हैं। इनका शरीर तप से कितना दुर्बल हो गया है।

भगवान् को देख कर श्रेयांसकुमार आनन्दित हुए। उसी समय जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उन्हें मालूम हुआ कि पूर्वभवों में मैं इनकी पत्नी, इनका मित्र और इनका सारथी रह चुका हूँ। इस भव में यह मेरे प्रपितामह हैं। लोग जानते नहीं कि इन्हें क्या और किस विधि से देना चाहिए ! इसी कारण भगवान् इतने दुर्बल हो गये हैं।

श्रेयांसकुमार महल से नीचे उतरे। उन्होंने भगवान् से कहा—प्रभो ! मैं जानता हूँ कि आपको और कुछ नहीं चाहिए, केवल आहार चाहिए। आप मेरे यहां पधारें, मेरे यहां आपके योग्य जो निर्दोष आहार होगा वह मैं आपको दूँगा।

हीरा-पन्ना आदि की उपेक्षा करके भगवान् अन्न का दान लेने के लिए चले। इसी तरह का दान सुपात्रदान कहलाता है

श्रेयांसकुमार का कथन सुन कर भगवान् ने सोचा- अब मेरे पारणे का समय आया है। यह सोचकर वे श्रेयांस-कुमार के पीछे-पीछे चले। श्रेयांसकुमार उन्हें भावपूर्वक अपने भोजनगृह में ले गये लेकिन वहां ऐसा कोई आहार नहीं था जो भगवान् को दिया जा सकता। भगवान् के निमित्त आहार तैयार किया नहीं जा सकता था और उनके योग्य तैयार आहार था नहीं। श्रेयांसकुमार कुछ असमंजस में पड़ गये। उसी समय उन्होंने देखा कि भेट में आये हुये इक्षु-रस के १०८ घड़े रक्खे हैं। यह विचार आते ही उन्हें संतोष हुआ। उन्होंने कहा—प्रभो ! यह रस आपके योग्य है। इसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिये।

भगवान् ने सोचा—यह रस शुद्ध, सात्त्विक और मेरे लेने योग्य है। भगवान् ने यह सोचकर श्रेयांसकुमार के सामने—करपात्र कर दिया। भगवान् के पाणी-पात्र में श्रेयांसकुमार ने रस की धारा छोड़ी। यह देख कर देव-देवियां की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। सभी को चिन्ता हो रही थी कि भगवान् रूपी कल्पवृक्ष सूखा जा रहा है। और सब बात की प्रतीक्षा में थे कि किसके हाथ से यह सींचा जाएगा। राजा श्रेयांसकुमार के हाथ से सींचा जाते देख देवों को भी अत्यन्त प्रसन्नता हुई। देव जय-जयकार करते हुए रत्न आदि की वर्षा करने लगे। वह मानो कहने लगे-

'हे मनुष्यो ! तुम कितने भाग्यशाली हो कि सुपात्र को दान दे सकते हो ! हम लोग तो दान की महिमा का बखान ही कर सकते हैं, दान नहीं दे सकते। तुम्हारा सौभाग्य असाधारण है।

मनुष्य भव इतना उत्तम है। फिर भी बहुत से लोग देवों की लालसा करते हैं और सोचते हैं कि एक देव कहीं मिल जाय तो मैं उसकी सहायता से सब लोगों को लूटकर अपना घर भर लूँ। लेकिन देव इस तरह नहीं मिला करते। आपमें धर्म होगा तो देव आप ही आपकी सेवा करेंगे। कहा भी है—

देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।

अगर आपके अन्तःकरण में धर्म का वास है तो देव आपके दास हैं। मगर आप धर्म की उपेक्षा करते हैं और देवों के गुलाम हो रहे हैं। वह गुलामी भी पैसों के लिए करते हैं। देव आपके हृदय को जानते हैं। वे आपके पास कैसे आ सकते हैं? आपके हृदय में शुद्ध धर्म होगा तो देव बिना बुलाये ही आपके पास दौड़े आएँगे।

भगवान् ऋषभदेव का पारणा श्रेयांसकुमार के हाथ से हुआ। देवगण दुंदुभी बजाकर श्रेयांसकुमार का यशोगान करने लगे। तप तो भगवान् ने किया था और यश श्रेयांसकुमार का गाया जाने लगा। ऐसी बात को ध्यान में रखकर ही आगम में कहा गया है—

दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी दोवि गच्छन्ति सुग्गइं ॥

अर्थात्—निष्काम तप करने वाले और निस्पृह जीवन यापन करने वाले पात्र दुर्लभ हैं और निस्पृह भाव से उनकी सेवा करने वाले दाता भी दुर्लभ हैं। जहाँ दोनों का संयोग होता है वहाँ दोनों की ही सद्गति होती है।

धन्य हैं भगवान् सरीखे तपस्वी और धन्य हैं श्रेयांसकुमार जैसे दाता !

राज्य करते हुए लोगों की भावना कैसी रहती है और श्रेयांसकुमार की भावना कैसी रही ! ऐसी भावना जिनकी होती है उनका कल्याण होने में देर नहीं लगती। आपके पास राज्य तो नहीं है लेकिन घर है। घर के काम करते हुए भी अगर आपकी भावना दूसरों का कल्याण करने की रही तो आपका भी यश गाया जायगा। आप गृहस्थ लोग कदाचित् इस बात की उपेक्षा भी कर सकते हैं मगर हम लोगों-साधुओं को तो क्षण भर भी उपेक्षा नहीं करना चाहिए। हमने यदि भगवान् ऋषभदेव की शरण में जाने के लिए ही संयम लिया है तो हमें भगवान् ऋषभदेव को और उनके महान् कार्यों को ही देखना चाहिए। हमें संसार के झंझटों में नहीं पड़ना चाहिए। मैं चाहता हूँ आप और हम दोनों ही भगवान् ऋषभदेव के मार्ग पर चलकर आत्मा का कल्याण करें।

भगवान् ऋषभदेव को जैनशास्त्र में भी महापुरुष माना गया है और वैदिक सम्प्रदाय के साहित्य में भी। भागवत में कहा है—

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः,
श्रेयस्य तद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाऽभयमात्मलोक--
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै।

(भागवत स्क. ५ अ. ६)

वेदव्यासजी कहते हैं—मैं उन ऋषभदेव को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने नित्य आत्मतत्त्व का चिन्तन किया और इस कारण जिनकी चिन्ता नष्ट हो गई हैं। चिन्ता का नाश हो जाने पर भी जिन्होंने जगत् के कल्याण के कार्य नहीं त्यागे हैं। जिन्होंने बहुत काल से प्रमाद में पड़े हुए लोगों को आत्म-तत्व समझाया और ऐसा मार्ग बतलाया जिससे आत्मा पूर्ण अभय-पद प्राप्त कर सके।

इस कथन के आधार पर समझा जा सकता है कि भग- वान् ऋषभदेव को वेदव्यासजी किस दृष्टि से देखते हैं और वैदिक ग्रन्थों में भी भगवान् का स्थान कितना उच्चतर है? वेदव्यासजी भगवान् ऋषभदेव को तृष्णा का नाश कर डालने के कारण नमस्कार करते हैं। वे अभय देने वाले को नमस्कार करते हैं तो क्या हम लोग भय देने वाले को नमस्कार करते है? नहीं। इस तरह जिन्हें वे मानते हैं उन्हीं को हम मानते

और जिन्हें हम मानते हैं उन्हीं को वे भी मानते हैं। हमारे और उनके ऋषभदेव में कोई अन्तर नहीं है।

दूसरे को अभय वही दे सकता है जो स्वयं निर्भय हो। जो स्वयं भयभीत होगा वह दूसरे को निर्भय कैसे करेगा? अतएव अभय देने के लिए निर्भय बनना आवश्यक है। लेकिन निर्भय वही बन सकता हैं जो आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मानता है और समझता है कि आत्मा अमृत है। ऐसी श्रद्धा प्राप्त करके आप भी निर्भय बन सकते हैं। अभी तक आपने आत्मा को बहुत भय दिया है। अब आत्मा का भय मिटाओ। आप आत्मा को अमृत समझने लगेंगे एवं आत्मा तथा शरीर का भेदविज्ञान प्राप्त कर लेंगे तो भय आपसे भयभीत होगा। आप पूर्ण रूप से निर्भय बन जाएँगे।

मित्रो! आत्मविश्वास रक्खो। आपको धन आदि पर जैसा विश्वास है वैसा विश्वास अपनी आत्मा पर नहीं है। पर यह मत भूल जाओ कि जिन्हें धन आदि बाह्य पदार्थों का ही विश्वास था वे लोग नष्ट हो गए। जिन्हें आत्मविश्वास था उनके विषय में कहा ही है—

न हि कल्याणकरः कश्चिद् दुर्गतिं तात! गच्छति।

अगर आप आत्मबल पर भरोसा रक्खें तो आपका अकल्याण कदापि नहीं हो सकता। अतएव आत्मकल्याण करने और उसके लिए अभय पद प्राप्त करने को तैयार हो जाओ।

पर्युषण पर्व के आठ दिन इसी प्रयोजन के लिए हैं। दूसरे पर्वों पर घर-बाहर का कचरा साफ किया जाता है लेकिन इस पर्व पर आत्मा का कचरा साफ किया जाता है। आत्मा में जमे हुए कचरे को निकाल कर आत्मा को पवित्र बनाने के लिए ही यह पर्व है। अगर आप आत्मा का मैल हटाने के लिए अधिक कुछ न कर सको तो, इस कविता में जो कुछ कहा है उसका ही पालन करो। कवि कहता है—

दुखी दर्दी के कोई भुलेला मार्गवाला ने,
विसामो आपवा घरनी उघाड़ी राखजो बारी।
गरीबोनी दाझ साँभलवा अवरना दुःख जोवाने,
तमारा कर्ण नेत्रोनी उघाड़ी राखजो बारी।
प्रणयनो वायरो वावा कुछन्दी दुष्ट वाजावा,
तमारा शुद्ध हृदयोनी उगाड़ी राखजो बारी।
थयेला दुष्ट कर्मोना छुटा जंजीर थी थावा,
जरा सा कर्म नीनोनी उघाड़ी राखजो बारी।

शास्त्र में श्रावक के लिए जो कुछ कहा है, इस कविता को उसका अनुवाद ही कहा जा सकता है। भगवतीसूत्र में श्रावक का वर्णन करते हुए उसे 'अभंगुअदुवारे' कहा है। अर्थात् श्रावकों के द्वार सदा खुले रहते थे। वे कृपण नहीं होते थे। कृपणता और श्रावकपन का साथ नहीं निभ सकता। अतएव वे श्रावक अपने द्वार सदा खुले रखते थे।

द्वार किसके लिए खुले रखने की आवश्यकता है ? आपके लिए तो आपका द्वार खुला ही रहता है, फिर खुला किसके लिए रखना चाहिए ? मैंने घाटकोपर में एक घर के द्वार पर एक पाटिया लगा देखा था। उस पर लिखा था-'विना इजाज़त कोई अन्दर न आवे।' जिस द्वार पर ऐसी सूचना लिखी हो उसमें मैं कैसे प्रवेश कर सकता हूँ ? आप अपने घर पर तो ऐसा पाटिया नहीं लगाते ? अगर लगाते हैं तो यह भी समझ लीजिए कि जो आपसे जबर्दस्त है, वह तो आपकी ऐसी सूचना की परवाह नहीं करेगा। लेकिन मुझ जैसे भिखारी को तो घर में घुसने से रुकना ही पड़ेगा। अतएव यह सोचने की आवश्यकता है कि आपको अपने घर का द्वार किसके लिए खुला रखना चाहिए ? जब शास्त्र में श्रावक को 'अभंगुयदुवारे' कहा है तो स्पष्ट है कि श्रावक के घर का द्वार सबके लिए खुला रहना चाहिए। क्या आपका द्वार सब के लिए खुला रहता है ? आपके घर से कोई निराश नहीं लौटता ? गृहस्थ के विषय में नीतिकार कहते हैं—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

अर्थात् जिसके घर से अतिथि निराश लौटता है, उस घर के स्वामी को वह अपना पाप दे जाता है और उसका पुण्य आप ले जाता है।

कहा जा सकता है कि ऐसा किस प्रकार हो सकता है? पुण्य-पाप का आदान-प्रदान होना संभव नहीं है। इस कथन का समाधान यह है कि आपके यहाँ जो आता है वह आपको महान् समझकर ही आता है। लेकिन आपके यहाँ से उसे जब गाली मिलती है तो वह क्या समझता है? वह यही सोचता है कि मैं कैसे तुच्छ आदमी के घर आ पहुँचा! इस तरह पहले आपकी पुण्याई समझी जाती थी वह समाप्त हो गई। इसके अतिरिक्त भिखारी मीठा बोलता हुआ आपके घर आता है। आप इसके विपरीत ही अगर व्यवहार करें—उसे जलीकटी सुनावें और वह नम्र होकर ही बोलता रहे तो यह पुण्य-पाप का लेना-देना हुआ या नहीं? इसी कारण भगवान् ने श्रावक को 'अभंगुयदुवारे' कहा है।

आपसे कोई यह नहीं कहता कि आप अपनी शक्ति से अधिक कुछ करें। मगर अपनी शक्ति के अनुसार तो दूसरों की भलाई के काम करना ही चाहिए। कोई भी सार्वजनिक दवाखाना संसार के समस्त रोगियों को दवा नहीं दे सकता। फिर भी उसमें अगर प्रत्येक आने वाले को दवा दी जाती है तो वह सार्वजनिक ही कहलाता है। इसी प्रकार आप भी सब की सेवा नहीं कर सकते। लेकिन जो आपके पास आता है उसकी सेवा यथाशक्ति तो करनी चाहिए।

इसी भावना के लिए संवत्सरी आती है। संवत्सरी के

दिन ऐसी ही उदार भावना जागृत करने की साधना करना चाहिए। इस भावना में अगर कोई त्रुटि नज़र आती हो तो उसे निकाल डालो और जो दुखी-दर्दी आवे उसे विश्राम देने के लिए अपने घर का द्वार खुला रक्खो।

हाथी के भव में मेघकुमार ने अपने लिए मंडल बनाया था। लेकिन वन में दावानल सुलगने पर जब दूसरे जीव उस मंडल में आ घुसे तो क्या उसने अपने मंडल में से निकाल दिया था? वह मंडल तो हाथी ने स्वयं परिश्रम करके बनाया था और आपने अपना मकान बनाने में शायद ही परिश्रम किया हो। फिर भी अगर आप दीन-दुखी के विश्राम के लिए अपने घर का द्वार खुला नहीं रखते तो क्या कहा जाय? हाथी पशु है। मनुष्य को उससे गया-बीता नहीं होना चाहिए।

बड़े आदमियों की बात सुनने के लिए आप अपने कान खुले रखते हैं। किन्तु अगर आपने दुखियों की कराह सुनने के लिए कान खुले न रक्खे तो आपके कान साँप के बिल के समान ही हैं। जिन शब्दों को सुनने से हृदय में करुणा उत्पन्न होती है, उन्हें न सुनना अनुचित है। भगवान् नेमिनाथ ने तो तोरणद्वार पर भी पशुओं की पुकार सुनी थी। आप अपने भाई की भी पुकार न सुनें—उसका भी दुख न मिटावें, यह कितना अनुचित है!

अब तक जो भूल हुई है उसका सुधार करो। अब दूसरों

का दुख-दर्द दूर करने की भावना रक्खो। जब आपका राजा भी दूसरों का दुख-दर्द सुनता है तो आप क्या अपनी जाति के गरीब भाइयों का भी दुःख न सुनेंगे? और उस दर्द को नहीं मिटाएँगे? आपके कान खोटे गीत और रिकार्ड सुनने के लिए खुले रहते हैं तो क्या दुखियों का दुख-दर्द सुनने के लिए नहीं खुले रहने चाहिए? भगवान् कहते हैं—उन गंदे गीतों से तो शृंगाररस की भावना उत्पन्न होगी और दुखियों की कष्टकथा सुनने से करुणारस का उद्रेक होगा। तुम करुणारस जागृत करने वाली बात सुनो। शास्त्र में कहा है—

जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं।

जिस बात को सुनने से अहिंसा, क्षमा तप आदि की भावना उत्पन्न हो, उसके लिए यही मानो कि हमने शास्त्र सुना है। क्योंकि शास्त्र सुनने से जिस भावना की जागृति होनी चाहिए उसी भावना की जागृति उस बात के सुनने से भी होती हैं।

कान की भाँति हृदय की भी बारी खुली रक्खो। अर्थात् हृदय में सद्भावना आने दो। जिस घर के किवाड़ खुले नहीं रहते और हवा का आवागमन जिस घर में नहीं हो पाता, उस घर की हवा खराब हो जाती है। ऐसी कई घटनाएँ सुनी गई हैं कि घर बंद करके सोये, हवा का आवागमन नहीं रहा और इस कारण मृत्यु हो गई। अतएव जैसे घर में हवा आने

का मार्ग खुला रक्खा जाता है, उसी प्रकार अपने हृदय में करुणा दया आदि आने के लिए मार्ग खुला रहने दो।

यह संसार समुद्र है। कहते हैं, जब समुद्र मथा गया था तो उसमें से अमृत भी निकला था और विष भी निकला था। इसी तरह इस संसार में से भी विष और अमृत--दोनों निकलते हैं। विचारणीय यही है कि आपको दोनों में से क्या लेना है? समुद्रमंथन से निकलने वाले विष और अमृत के विषय में कहा जाता है कि जो लोग मोहनी पर ललचा गये उन्हें विष मिला। और वे असुर कहलाए। अमृत नहीं मिला। जो नहीं ललचाये उन्हें अमृत मिला और वे देव कहलाए। इस पौराणिक आख्यान में से तथ्य निकालो। आप इस संसार—समुद्र से विष ग्रहण मत करो, अमृत लो।

आपके लिए यह अपूर्व अवसर है। ऐसा सुअवसर पाकर भी अगर आप अपनी आत्मा को उन्नत न करेंगे तो फिर कब करेंगे? अतएव जिस प्रकार श्रेयांसकुमार ने सहज आया हुआ इक्षुरस भगवान् ऋषभदेव को देकर अपूर्व लाभ लिया था, उसी प्रकार आपको सहज रूप से जो शक्ति मिली है, उसके द्वारा परोपकार करो। निश्चित समझो कि 'परोपकार' शब्द का प्रयोग करना तो प्रचलित भाषा है। वस्तुतः परोपकार 'स्वोपकार' ही है।

———

तल्लीनता

श्रीजिन अजित नमूं जयकारी,
तू देवन को देवजी ।

यह भगवान् अजितनाथ की प्रार्थना है। भक्त परमात्मा से कहते हैं—'हे नाथ! तू देवाधिदेव होकर अजित हुआ है।' जो अजित होता है वह दूसरों से पराजित नहीं होता। वही देवाधिदेव होता है। इस प्रकार भक्तों ने पूर्ण पुरुष का लक्षण बतला दिया है। पूर्णता प्राप्त हुए बिना सम्पूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त करके अजित नहीं बना जा सकता।

स्थूल दृष्टि से इस जगत् का व्यवहार बहुत लम्बा है। कोई भी शक्तिशाली पुरुष तीन लोक में नहीं जा सकता। अतएव प्रश्न हो सकता है कि भगवान् ने तीन लोकों पर कैसे विजय प्राप्त की और किस प्रकार वे 'अजित' पद के अधिकारी हुए? इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानीजन कहते हैं कि भगवान् ने जो विजय प्राप्त की है वह बाहरी विजय नहीं है। वह आन्तरिक विजय है। 'पिण्ड में ब्रह्माण्ड' की नीति से भगवान् ने सब पर विजय प्राप्त की है। जो अपनी आत्मा के दुर्गुणों

पर विजय पा लेता है वह सम्पूर्ण त्रिलोक पर विजय पा लेता है। अतएव आप अपनी आत्मा के दुर्गुणों को जीतकर अजित बनने का प्रयत्न कर सकते हैं।

आप अपने हृदय को देखो, संसार को न देखो। जब आपका मन प्रसन्न होता है तब चाहे संसार कैसा भी क्यों न हो, पर आपको कैसा लगता है? और जब मन प्रसन्न नहीं होता तब, संसार चाहे कितना ही अच्छा हो, आपको अच्छा नहीं लगता। यह बात ध्यान में रखकर ही कहा गया है—

तणसंथारनिसएणो मुणिवर भट्ठरायमयदोसो।
जं पावइ मुत्तिमुहं कत्तो तं चक्कवट्टीए?

अर्थात्—जिनका राग, द्वेष और मद नष्ट हो गया है वे मुनि घास के आसन पर बैठे या लेटे हुए भी मुक्ति का जो आनन्द प्राप्त करते हैं वह आनन्द चक्रवर्त्ती को भी नसीब नहीं हो सकता।

मुनि को इतना आनन्द क्यों प्राप्त होता है? मन की प्रसन्नता ही इसका मुख्य कारण है। मन के प्रसन्न रहने पर ही सब वस्तुएँ आनन्दप्रद होती हैं। और जब मन प्रसन्न नहीं होता तो कोई भी वस्तु आनन्ददायक नहीं जान पड़ती। कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य को सब प्रकार की सम्पत्ति और सब प्रकार का वैभव प्राप्त है। उसकी सेवा करने के लिए सुन्दरी स्त्री भी प्रस्तुत है। उसे एकाएक समाचार मिला कि तुम्हारा इकलौता लड़का विदेश में मर गया है। यह समाचार मिलने

के बाद उसे वह सम्पत्ति और वैभव कैसा जान पड़ेगा? यद्यपि उसके वैभव में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं हुई है, न धन ही कम हुआ है, न स्त्री कहीं चली गई है; फिर भी उसे कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगेगी। इसका कारण यही है कि उसका मन प्रसन्न नहीं है। इसके विरुद्ध मानसिक प्रसन्नता की स्थिति में यह सब वस्तुएँ न हों तो भी मन आनंदित रहता है। इस तरह यह बात सभी के अनुभव की है कि मन की प्रसन्नता से ही सब कुछ अच्छा लगता है और जब मन प्रसन्न नहीं होता तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

विज्ञान सामान्य से विशेष का पता लगाता है। इसी आधार पर महापुरुषों ने ऐसी बात देखकर आध्यात्मिक क्षेत्र में यह खोज की है कि जिसका मन पूर्ण शान्त हो जाता है अथवा जिसका मन पूरी तरह आनन्दित रहता है, उसको किसी आनन्द की कमी नहीं रहती और संसार की सम्पदा के अभाव में भी वह आनन्दित रहता है। ऐसा ही व्यक्ति त्रिलोक पर विजय प्राप्त करके अजेत बन सकता है। इसी कारण भक्तजन भगवान् अजितनाथ की प्रार्थना करते हुए कहते हैं-हे प्रभो! तूने अपने मन को पूरी तरह शान्त करके सारे जगत् पर विजय प्राप्त की है और तू अजित हुआ है। मैं भी तेरी शरण में आता हूँ, जिससे मैं भी मन को पूरी तरह शान्त करके अजित बन सकूँ। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए मैंने अनेक

क्रिया, करण आदि के मिलने पर ही काम होता है। इनके बिना काम नहीं हो सकता। आत्मा में परमात्मा के गुण विद्यमान हैं, लेकिन जब तक आत्मा कर्त्ता बनकर निमित्त कारण रूप परमात्मा की सेवा नहीं करता है, तब तक उसके गुण प्रकट नहीं हो सकते। प्रत्युत अनादि काल से जिस प्रकार भटकता आ रहा है, उसी प्रकार भटकता फिरेगा। अतएव इस विषय में प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

कुँभार मिट्टी लेकर बैठता है। लेकिन वह उसे मिट्टी ही नहीं रहने देता किन्तु घड़ा बनाता है। स्त्रियाँ आटा लेकर बैठती हैं मगर उसे आटा ही नहीं रहने देतीं किन्तु रोटी बनाती हैं। यद्यपि मिट्टी में घड़ा और आटे में रोटी बनने की शक्ति है मगर उस शक्ति का आविर्भाव तभी होता है जब निमित्त रूप से किसी की सहायता प्राप्त हो। इसी प्रकार आत्मा को भी अपनी शक्ति का आविर्भाव करने के लिए परमात्मा की सहायता की आवश्यकता हैं। बिना परमात्मा की सहायता के आत्मा परमात्मा नहीं बन सकता। इसीलिए तो परमात्मा की शरण ग्रहण करने की आवश्यकता है।

आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है, लेकिन आत्मा से एक बड़ी भूल यह होती है कि जिन कार्यों के करने से आत्मिक शक्ति का विकास होता है, उन कामों को भूलकर आत्मा दूसरे कामों में तन्मय बना रहता है। इसीलिए कहा गया है-

इस कथन के अनुसार सब में ब्रह्म मानता है वही वेदान्ती है और उसी ने ब्रह्म को जाना है।

बौद्ध उसे 'बुद्ध' कहते हैं। लेकिन बुद्ध को शान्ति के लिए माना जाता है या अशान्ति के लिए? बुद्ध का नाम लेकर आग लगाने का कोई समर्थन नहीं करता। सभी लोग शांति की हिमायत करते हैं। ऐसी दशा में बुद्ध, शिव या ब्रह्म में क्या अन्तर रहा?

अब नैयायिकों की बात पर आइए। प्रमाण देने में पटु नैयायिक जिसे कर्त्ता कहते हैं, वह कर्त्ता शान्ति देता है या अशान्ति देता है? अगर वह अशान्ति देता है तो उसे यमराज कहा जायगा। अगर ईश्वर यमराज नहीं है तो उसे शांतिदाता ही कहा जायगा और तब बुद्ध में, शिव में, ब्रह्म में या इसमें क्या अन्तर है?

कवि कहता है कि जिनकी रति जैनशास्त्र में है, वे लोग उसे अर्हन् कहते हैं। लेकिन अर्हन् या अरिहंत का स्वरूप क्या है और अर्हन्त को स्मरण करने वाले का कर्त्तव्य क्या है, यह देखना चाहिए। आप अर्हन्त का नाम जपकर भी उसका दुरुपयोग तो नहीं करते हैं? आपमें दूसरे का धन या दूसरे की स्त्री को हरण करने की शक्ति होने पर भी, ऐसा करते समय क्या आप मानते हैं कि परमात्मा सब कुछ देखता है? आप ऐसा मानते हों तो क्या आपसे पाप हो सकता है?

साधारण लोक-व्यवहार में अर्हन्त के उपासकों में दूसरे मतानुयायियों की अपेक्षा कोई खास विशेषता क्यों नज़र नहीं आती ? पाप करते समय लोग परमात्मा से मानो यही कहते हैं कि तू यहाँ से हट जा। 'अरह' वह कहलाता है जिससे कोई बात गुप्त न रहे—जो सभी कुछ जानता और देखता है। जब परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है तो आप उससे अपने पाप कैसे छिपा सकते हैं ? अगर आपमें यह भावना रही कि-हे प्रभो ! मेरे द्वारा पाप न हो और मैं तुझे सभी जगह व्यापक मानूँ; तब तो आपने अर्हन्त को जाना है। नहीं तो क्या जाना है!

इसलिए मैं यह कहता हूँ कि परमात्मा का नाम लेकर ही मत रह जाओ। यह मानो कि प्रभु सर्वज्ञ हैं और सर्वदर्शी हैं। वे सभी कुछ जानते-देखते हैं। हमारा पाप उनसे छिपा नहीं रह सकता। अगर आपके अन्तःकरण में यह श्रद्धा बद्धमूल हो गई है तो क्या आपसे पाप होगा ? जब आपके साथ राजा हो तो क्या आप अपराध करने का साहस करेंगे? आप राजा से डरते हैं मगर पाप करते समय परमात्मा का भय नहीं रखते, यही माया है। प्रकट में कुछ करना और अप्रकट में कुछ करना ही तो माया का लक्षण है। हम आपके सामने उपदेश देने बैठें तो सन्त बनकर बैठें और उपदेश सुनावें, लेकिन अकेले होने पर यह विचार करें कि यहाँ कौन देखता है, तो क्या हम सचमुच साधु हैं ? और क्या हमने

सचमुच परमात्मा को सर्वज्ञ माना है ? क्या हमने लोगों को दिखाने के लिए ही साधुता अंगीकार की है ? हमारे लिए शास्त्र में कहा है—

से गामे वा नयरे वा रण्णे वा एगओ वा परिसागओ वा; सुत्ते वा जागरमाणे वा।

अर्थात्—साधु चाहे ग्राम में हो, चाहे नगर में हो, चाहे वन में हो, चाहे अकेला हो, चाहे समूह में हो, चाहे सोता हो, चाहे जगता हो; उसे सदा एक-सा रहना चाहिए। वह किसी भी समय परमात्मा को न भूले। ऐसा करने पर ही हम सच्चे साधु हैं। अगर हममें यह बात न हो किन्तु प्रकट में कुछ और अप्रकट में कुछ करने लगें तो हमारे पास कौन फटकेगा!

आप हमारे पास आये हैं। लेकिन क्या लेने आये हैं? इस बात पर आपको भी विचार करना चाहिए। हमारी सेवा करने के लिए आप हमारे पोटले तो उठाते नहीं हैं। हमारी सेवा यही है कि आप समभाव रक्खें। आपने समभाव रक्खा तब तो हमारी सेवा है। नहीं तो सेवा का नाम ही नाम है। हम आपसे कोई मिहनताना तो लेते नहीं है। समभाव रखने का उपदेश आपको मुफ्त ही मिल रहा है। इसलिए उसकी उपेक्षा मत करो और यहाँ आना तथा अर्हन्त के भक्त कहलाना सार्थक करो।

मतलब यह है कि जैन लोग जिसे अर्हन् कहते हैं, वह

भी तो शान्ति करने वाला ही है। फिर अन्तर क्या है?

कवि आगे कहता है—मीमांसक उसे कर्म कहते हैं। वह कर्म क्या है? सभी लोग अच्छे कर्म करने को ही कहते हैं। जैनशास्त्र कब कहते हैं कि बुरे काम करो। जैनशास्त्र अच्छे काम करने की ही प्रेरणा करता है।

थोड़ी देर सामायिक में बैठकर अच्छे काम किये तो क्या हुआ! जब आप व्यवहार में भी बुरे काम न करें किन्तु अच्छे काम करें, तभी समझना कि हम जैन के मार्ग पर हैं।

सारांश यह है कि नाम कुछ भी हो, काम देखो। अच्छे काम द्वारा परमात्मा की शरण में जाओ। साथ ही जो कुछ भी करो, परमात्मा की शरण के लिए ही करो। इस लोक या परलोक संबंधी सांसारिक सुखों की अभिलाषा से मत करो। शास्त्र में कहा ही है—

न इह लोगट्ठियाए तवमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए तवं अहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवं अहिट्ठिज्जा।

शास्त्र कहते हैं—हे भाइयो! तुम्हारी क्रिया तुम्हें काम क्रोध आदि की तरफ न ले जाय, इस बात का ध्यान रक्खो। तुम तपस्या आदि कोई भी करणी करो, पर वह इहलोक या परलोक की या और किसी वस्तु की लालसा से मत करो, किन्तु निर्जरा के लिए करो। परमात्मा की शरण में जाने के एकमात्र उद्देश्य से ही करो।

उपादान आतम सही पुष्टालम्बन देव ।
उपादान कारणपणे प्रकट करे प्रभु सेव ॥

यानी आत्मा के परमात्मा बनने में उपादान कारण स्वयं आत्मा है। परमात्मा निमित्त कारण है। मगर निमित्त कारण के अभाव में अकेला उपादान कारण कार्य नहीं कर सकता। अतएव जैसे घड़े की उपादान कारण मिट्टी, कुम्भार रूप निमित्त कारण के अभाव में घड़ा नहीं बन सकती, उसी प्रकार परमात्मा रूप निमित्त कारण के सेवन किये बिना आत्मा स्वयं परमात्मा नहीं बन सकता। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कार्य को निष्पन्न करने के लिए उपादान और निमित्त-दोनों कारणों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। दोनों में से किसी भी एक के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। आत्मा का परमात्मा बनना भी एक कार्य है। उसके लिए भी उपादान और निमित्त कारणों की आवश्यकता है। उपादान कारण स्वयं आत्मा है और निमित्त कारण परमात्मा है। अतएव परमात्मा बनने के लिए परमात्मा की सेवा अनिवार्य है। परमात्मा की सेवा करते ही आत्मा परमात्मा बनता है।

जैसे सूर्य किसी भी प्रकार का भेदभाव किये बिना सब को समान रूप से प्रकाश देता है, उसी प्रकार ज्ञानियों के समीप भी किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता। इसलिए वे प्रेरणा करते हैं कि—हे आत्मन्! तू अपने में कारणत्व उत्पन्न

करने के लिए परमात्मा की शरण में जा। परमात्मा की शरण ग्रहण करने में किसी प्रकार का संकोच मत कर। यह मत सोचो कि मैं कैसे परमात्मा की शरण में जाऊँ! जिस तरह भी परमात्मा की शरण में जा सकता हो, उसी तरह जा। साध्य एक होता है, साधन अनेक होते हैं। अतएव साधनों के विषय में किसी प्रकार का व्यामोह न लाकर जिस किसी साधन से परमात्मा की शरण में जा सको, उसी साधन से जाओ। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, यह मुक्ति के चार साधन हैं। इनमें से सच्चे भाव से किसी भी साधन को अपनाने पर शेष स्वयं उसमें अन्तर्गत हो जाते हैं। अतएव इन चार साधनों में से जिसे अपनाने की अपने में शक्ति हो, उसी साधन को मुख्य रूप से अपनाकर और दूसरे साधनों की निन्दा न करके, दूसरे साधनों का विरोध न करके, मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। अतएव साधन के विषय में किसी प्रकार का व्यामोह उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। जिस साधन को अपनाने की क्षमता तुम अपने में पाओ, उसी को अपनाओ। फिर सब साधन एक रूप ही बन जाएँगे। चारों में भेद ही प्रतीत नहीं होगा।

एक कार्य की सिद्धि के अनेक साधनों में से किसी एक को पकड़ लेने और दूसरे साधनों का विरोध करने पर कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए स्त्री रसोई बनाती

है तो उसके लिए आटा, पानी, आग आदि सब साधनों के सहयोग की आवश्यकता होती है। सबका सहयोग होने पर ही रसोई बन सकती है। यह बात दूसरी है कि किसी वस्तु का निमित्त रूप से सहयोग होता है और किसी का उपादान रूप से। लेकिन सहयोग सभी का अपेक्षित रहता है। अब अगर कोई स्त्री यह सोचे कि रोटी तो आटे की बनती है, मुझे आग, पानी आदि की कोई आवश्यकता नहीं है, तो क्या वह रसोई बनाने में सफल होगी? दूसरे साधनों की निन्दा या उपेक्षा करके वह रसोई नहीं बना सकती। इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने में भी अनेक साधनों की आवश्यकता होती है। उनमें से किसी एक का भी विरोध हुआ तो मोक्ष-प्राप्ति में बाधा होगी। इसी कारण यह कहा गया है—

मित्ती मे सव्वभूएसु।

यानी सभी जीव मेरे मित्र हैं। यदि किसी एक जीव के प्रति भी अन्तःकरण में वैरभावना रह जाती है तो मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

जब आत्मा उच्च स्थिति में होता है तब सभी साधन अनुकूल हो जाते हैं। कोई भी साधन प्रतिकूल नहीं रहता है। कृष्ण के विषय में मैं कह ही चुका हूँ। कंस ने उन्हें मार डालने के लिए अनेक प्रयत्न किये, लेकिन वे सब प्रतिकूल प्रयत्न कृष्ण के लिए अनुकूल हो गए। इस प्रकार आत्मा जब ऊँची

स्थिति में पहुँच जाता है तो प्रतिकूल प्रकृति भी उसके अनुकूल हो जाती है। अतएव आत्मा को परमात्मा की शरण में ले जाने की आवश्यकता है। इस संबंध में नाम का भेद देखने की आवश्यकता नहीं है। तत्त्व पर ही दृष्टि रहनी चाहिए। नाम कुछ हो, तत्त्व यदि एक है तो काफी है। कहा भी है—

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो--
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।

जो दुःखों को हरण करता है—नष्ट करता है वह हरि कहलाता है। उस हरि को कोई शिव भी कहते हैं। शिव का अर्थ भी यही है, अर्थात् जो कल्याण—सुख रूप है वह शिव है। अगर कोई शिव का नाम लेकर किसी के घर में आग लगाता है तो क्या उसने शिव का स्वरूप समझा है? नहीं। शिव तो वही है जो सुख उत्पन्न करे। उसे वेदान्ती लोग ब्रह्म कहते हैं। लेकिन ब्रह्म को जानने वाले का क्या कर्त्तव्य है? जो सब के सुख—दुख को अपना ही मानता है और प्राणी मात्र को ब्रह्मरूप देखता है, वही सच्चा वेदान्ती है। जो इसके विपरीत करता है, क्या उसने ब्रह्म को पहचाना है? जो—

अत्तसमे मन्निज्जा छप्पि काये।

जो लोग तपस्या करते हैं, उनसे मेरा यही कहना है कि तुम्हारा तप निर्जरा के लिए ही हो। और तपस्वी को देखकर आपको भी सोचना चाहिए कि जब तपस्वी ऐसा कठोर तप करते हैं तो हमें क्या झूठ, दुराचार आदि, जो व्यवहार दृष्टि से भी त्याज्य हैं; नहीं त्याग देना चाहिए ? इस प्रकार सोच-कर जो बातें त्याज्य हैं उन्हें त्यागकर नीतिमान् बनो। नीति-मान् बनने पर ही धर्मात्मा बन सकते हो। यह सोचकर कि हम तो गृहस्थ हैं, पाप मत करो। पाप त्यागकर अपनी मर्यादा के अनुसार अच्छे काम करो। और जो कुछ करो, परमात्मा के लिए करो।

हनुमान् कवि ने नामभेद होने पर भी ईश्वर की एकता का जो प्रतिपादन किया है, उस पर आप समीचीन दृष्टि से विचार करें। नाम के फेर में न पड़कर ईश्वर के गुणों पर विचार करें। मूल तत्त्व देखें और कल्याण का मार्ग अपनाएँ।

भगवान् ऋषभदेव का श्रेयांसकुमार के हाथ से पारणा हुआ। सारे जगत् में यह बात प्रसिद्ध हो गई। देखना चाहिए कि भगवान् का पारणा तो श्रेयांसकुमार के हाथ से हुआ, मगर जो लोग भगवान् को हाथी, घोड़ा, कन्या आदि देने को उद्यत होते थे, उन्हें कोई फल हुआ होगा या नहीं ? जब लोगों ने यह सुना कि भगवान् ने श्रेयांसकुमार के घर ~ लिया है, तब वे लोग सोचने लगे और पश्चात्ताप करने

कि हम लोग भ्रम में थे कि भगवान् को आहार के बदले हाथी घोड़ा आदि देने को तैयार होते थे ! भगवान् को हाथी-घोड़े की आवश्यकता ही क्या है ? हमारे घर में खाने—पीने की वस्तुएँ भरी पड़ी थीं, फिर भी हमने भगवान् के सामने वह वस्तुएँ पेश नहीं कीं। यह हमारा कितना अज्ञान है ! हाय ! अज्ञान कितना अनर्थकारी होता है !

लोग इस प्रकार पश्चात्ताप करने लगे और श्रेयांसकुमार के पैरों में पड़ने लगे। सभी ओर श्रेयांसकुमार की प्रशंसा होने लगी। इस तरह उन लोगों को भी लाभ ही हुआ। कई लोग कहने लगते हैं कि हमारे पास धन नहीं है। हम परमात्मा का भजन किस प्रकार करें ? मगर इस वृत्तान्त से यह समझ लेना चाहिए कि परमात्मा को धन की आवश्यकता नहीं है। भक्ति धन से ही नहीं होती।

भगवान् मौन थे लेकिन लोग तो दाता का ही गुणगान करते थे। इससे प्रकट है कि भगवान् ने जब मोक्षधर्म प्रकट किया, उससे पहले ही श्रेयांसकुमार ने दानधर्म प्रकट किया था, जो मोक्ष का पाया है। मोक्ष का पाया ही न हो तो मोक्ष कैसे मिल सकता है ?

यद्यपि मोक्ष के लिए दान आवश्यक है लेकिन आज लोगों में दान की वृत्ति कम हो रही है। लोग जो कुछ देते भी हैं तो उसके बदले अखबारों में नाम चाहते हैं। मगर दान कैसा

होना चाहिए, इस संबंध में गीता में कहा है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं विदुः ॥

अर्थात् जो दान देश काल पात्र देखकर विना किसी प्रत्युपकार की भावना के दिया जाता है, वही दान सात्विक है।

जिसको जिस समय जिस वस्तु की आवश्यकता है, उसको उस समय वही वस्तु देना विवेकयुक्त है। दूसरे को उस चीज़ की जरूरत है और अपने पास वह चीज़ है तो उस दूसरे को दे देने की उदारता रखना ही दान है। दान में देश, काल, पात्र आदि देखने की आवश्यकता है। इन वातों का विवेक होना ही चाहिए। ऐसा न हो कि प्यास के मारे जिसका कंठ सूख रहा हो उसे भोजन लेने को कहा जाय और जो भूख का मारा छटपटा रहा है उसे पानी वतलाया जाय। ऐसा हुआ तो क्या यह काल और पात्र का विवेक कहलाया? दान देकर फिर इस वात की भी चिन्ता करनी चाहिए कि जिसे हमने दान दिया था, उसका क्या हुआ? आप कुत्ते को रोटी डाल देते हैं लेकिन फिर यह भी देखते हैं कि उनका क्या होता है? बहुत से लोग तत्काल आवेश में आकर कुछ कर डालते हैं या दे देते हैं लेकिन देश काल और पात्र का ध्यान न रक्खा तो वह दान पूरी तरह सफल नहीं होता।

प्रत्येक कार्य में ज्ञान की आवश्यकता है। भगवान् ऋषभ-

देव कष्ट सहते हुए घर-घर इसी लिए घूमे थे कि लोग ज्ञानवान् होकर इस बात को समझें कि मुनि को किस प्रकार दान देना चाहिए। भगवान् दूसरों को विवेक देने के लिए घर-घर घूमे और निराहार रहे तो क्या आप अपनी भलाई का भी विवेक नहीं रख सकते ? और अपने घर वालों को भी विवेक नहीं सिखा सकते ?

सत् और असत् को पहचानना ही विवेक कहलाता है। सत्-असत् के विवेचन को ही विवेक कहा गया है। अर्थात् अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की पहचान होना विवेक या ज्ञान है।

भगवान् ने सब को दान के संबंध में विवेक सिखलाया। उस समय दान लेने वाले केवल भगवान् ही थे और दान देने वालों की कमी नहीं थी। फिर भी भगवान् ने सब को विवेक सिखलाया। घोर कष्ट सहकर भगवान् ने सब को विवेक सिखलाना आवश्यक समझा।

भगवान् एक बार विनीता नगरी की तरफ चले। विनीता नगरी में मरुदेवी माता 'हाय ऋषभ, हाय ऋषभ' कहकर भगवान् का ही स्मरण किया करती थीं। भगवान् ने तो कष्ट सहन करके तत्त्वज्ञान प्रकट किया था और माता भगवान् को ही स्मरण किया करती थीं। फिर भी दोनों को एक ही गति प्राप्त हुई। इस आधार पर सोचना चाहिए कि भगवान् की भक्ति की कैसी महिमा है!

माता मरुदेवी को भगवान् के विछोह में खाना-पीना आदि कुछ भी नहीं सुहाता था। कहा भी है—

क्लेशैर्युते मनसि चेन्नहि किञ्चिदस्ति।

सभी वस्तुएँ सामने मौजूद होने पर भी अगर चित्त में शांति न हो तो कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। लेकिन चित्त में शांति न होने या वस्तु अच्छी न लगने के मुख्य दो कारण होते हैं—एक तो संसार से विरक्ति और दूसरा किसी परिजन का वियोग।

माता को किसी चीज़ की कमी नहीं थी। उनकी सेवा करने वाले भरत और बाहुबली जैसे पौत्र थे। उनकी रानियाँ भी माता की आज्ञा पालने में अपना अहोभाग्य मानती थीं। उनके पास हाथी थे, घोड़े थे-सभी कुछ था। जिस ओर वे दृष्टि घुमातीं, आनन्द ही आनन्द था। सब लोग हाथ जोड़ कर उनकी सेवा में उपस्थित रहते थे। फिर भी ऋषभदेव के बिना उनके लिए सभी कुछ सूना था। वे रात-दिन ऋषभदेव को ही याद किया करतीं। भक्ति के मार्ग का यह अनोखा उदाहरण है। आप भी जब यह मानने लगें कि हमें चाहे कितनी ही चीज़ें क्यों न मिल जाएँ, अगर परमात्मा नहीं मिला है तो कुछ भी नहीं मिला है; तभी समझना कि हमारे चित्त में भगवान् की भक्ति है।

माता मरुदेवी रात के समय, अचानक सोने से उठकर

कहने लगतीं— क्या ऋषभ आया है ? ऋषभ ! ऋषभ कहाँ है ?'

तब सुनन्दा और सुमंगला कहतीं—माता ! पागल क्यों हुई जा रही हो ? तुम्हारी आज्ञा पाकर ही तो वह गये हैं। अब जल्दी लौट आएँगे।

माता व्याकुल होकर कहतीं—वह आएगा ? कब आएगा ? तुम मुझे फुसला तो नहीं रही हो ? क्या वह सचमुच आएगा ?

भरत की रानियाँ कहतीं—माता, धीरज रक्खो। हम आपके पौत्र से कहेंगे कि आप राजपाट में ही भूल रहे हैं और यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि भगवान् कहाँ हैं ?

भरत की रानियों के इस प्रकार कहने पर माता कहतीं—बहुओ, तुम सुलक्षणा हो। लेकिन ऋषभ कब आएगा ?

माता को इस प्रकार बहुत तरह से संतोष देने का प्रयत्न किया जाता, मगर थोड़ी ही देर में फिर वही रट लगातीं—ऋषभ ! कहाँ है तू ? कब आएगा ?

कभी-कभी सान्त्वना देने पर वह कहतीं—मैं जब तक ऋषभ को आँखों से न देख लूँ और उसके शब्द कानों से न सुन लूँ, तब तक मुझे संतोष नहीं होने का !

जब भरत माता के पास जाते तो माता उन्हें मीठा-सा उलहना देतीं—भरत ! तू राजपाट पाकर मेरे ऋषभ को बिलकुल भूल गया है ! घर में मैं उसे किस प्रकार रखती थी !

का समाचार मिला है। आप रात-दिन जिनके लिए चिन्ता करती रहती थीं और जिनका नाम रटा करती थीं, वे भगवान् पधार गये हैं।

यह सुनते ही माता की प्रसन्नता का पार न रहा। उन्होंने कहा—ऋषभ आ गया ? पर वह घर पर क्यों नहीं आया ? खैर, नहीं आया तो न सही। बहुत दिनों में लौटा है। मैं ही जाकर बुला आती हूँ।

लोग कहते हैं—तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। यह कहना कथंचित् ठीक है, लेकिन जिसकी अन्तरात्मा में परमात्मा संबंधी प्रेम एकरस हो गया है, उसे तत्त्वज्ञान स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। किसी कारीगार ने कितना ही श्रम करके सुन्दर चित्र बनाया हो। वह चित्र अगर स्वच्छ काच के सामने रक्खा जायगा तो अनायास ही वह काच में प्रतिबिम्बित हो जायगा। कारीगर को चित्र बनाने में देर लगती है, श्रम भी करना पड़ता है; मगर काच में प्रतिबिम्ब पड़ते देर नहीं लगती। इसी प्रकार चाहे स्वयं की करनी नहीं के बराबर हो, तब भी हृदय अगर स्वच्छ है तो उस पर महापुरुष की करनी का प्रतिबिम्ब अंकित हो ही जाता है। मरुदेवी माता में यद्यपि स्नेह-राग है, फिर भी उनका हृदय शुद्ध है। इसी से वह कहती हैं कि ऋषभ को मैं ही क्यों न बुला लाऊँ !

माता का कथन भरत ने भी सुना। उन्होंने सोचा—माता

इस समय हर्ष की चरम सीमा में हैं। भगवान् घर पर नहीं पधारेंगे, यह कहकर उनके हर्ष को एकाएक आघात पहुँचाना उचित नहीं है। गीता में कहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।

अर्थात्—जो अच्छे काम में लगा है, उसकी बुद्धि में गड़बड़ पैदा कर देना उचित नहीं है।

एवन्ताकुमार से गौतम स्वामी क्या अपना हाथ नहीं छुड़ा सकते थे ? लेकिन ऐसा करके उन्होंने एवन्ता कुमार के हर्ष का छेदन नहीं किया।

पूज्य श्रीलालजी महाराज कहा करते थे—मेरा विवाह हुआ और मैं वापिस लौटा तब तपस्वी पन्नालालजी महाराज वहाँ विराजमान थे। उन्हें देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई और मैं उनके पैर पकड़ने के लिए दौड़ा। मुझे यह भी याद नहीं रहा कि मेरे पास संगठा (सचित्त-स्पर्श) होने योग्य कोई वस्तु है ! मुझे महाराज का पैर पकड़ने के लिए जाते देखकर लोग कहने लगे—संगठा होगा, संगठा होगा। हल्ला सा मच गया। लेकिन तपस्वीजी महाराज ने कहा—इस तरह किसी के हर्ष का छेदन नहीं करना चाहिए। इसे हर्ष में इस बात का ध्यान नहीं रहा।

भरत ने माता से कहा—माताजी, हम लोग भगवान् के पास चलते ही हैं। फिर जैसा आपको उचित लगे, करना।

माता—ठीक है। जल्दी करो। फिर उन्होंने बहुओं से कहा—अरी तुम सब भी जल्दी तैयार हो जाओ। आज अपनी चिरकाल की साध पूरी हो रही है। आज मेरा ऋषभ आया है! चलो, सब मिलकर उसे घर ले आएँ!

भरत ने अपनी सेना सजायी। हाथी सजाये। घोड़े सजाये। उधर भरत की रानियाँ तैयार होकर माता के पास आ पहुँचीं। सब को देखकर माता विचारने लगीं--ऋषभ के आने से मुझे ही नहीं, सभी को हर्ष है। वास्तव में ऋषभ सभी का है। वह सारे जगत् का रक्षक है।

माता हाथी पर सवार होकर भगवान् के पास चलीं। भरत और बाहुबली उन पर चँवर ढोर रहे थे। उनके पुण्य का क्या कहना है! यद्यपि उनके लिए सभी चीज़ें प्रस्तुत थीं, मगर उनका मन तो भगवान् में ही लगा था। वास्तव में जो माता मरुदेवी की तरह संसार की सब वस्तुओं को एक किनारे रख परमात्मा के चरणों में ही मन लगाता है, वही सच्चा पुण्यवान् है और वही अपना शाश्वत कल्याण कर सकता है।

माता हाथी पर सवार थीं और भरत एवं बाहुबली जैसे महापुरुष उन पर चँवर ढोर रहे थे; फिर भी मानो उन्हें इस गौरव का ध्यान ही नहीं था। उनका मन तो प्रभु में ही लीन था। आज ज़रा-सा ऐश्वर्य पाकर लोग ज़मीन पर पाँव नहीं रखते। नया जूता पहनकर ही अभिमान करते हैं। सोचने

लगते हैं—ओह ! मेरा जैसा दूसरा कौन है ? उन्हें यह नहीं मालूम कि वे जिस सम्पदा पर अभिमान करते हैं वह कितनी तुच्छ है ! ऐसी नगण्य सम्पदा पर क्या अभिमान !

माता को भगवान् के पास पहुँचने की उतावल थी। वह सोच रही थीं कि मैं कब ऋषभ को देखूँ ! इस कारण वह कहने लगीं—'यह हाथी चलता क्यों नहीं है ! क्या आज इसे खाने को नहीं मिला ?'

आखिर जिस हाथी पर माता सवार थीं वह भगवान् के समीप जा पहुँचा। भरत ने माता से कहा—माता, देखो, भगवान् वे सामने विराजमान हैं।

माता—कहाँ ? मुझे तो नहीं दिखाई दिया।

भरत ने भगवान् की ओर उंगली बताकर कहा—देखो, वे रहे !

भगवान् को देखकर माता कहने लगीं—ऋषभ ऐसा वैभवशाली हो गया है ! अपने वैभव में वह मुझे भी भूल गया है क्या ? इसमें आश्चर्य ही क्या है ! अरे इसके सामने इन्द्र, इन्द्राणी, देव और देवियाँ हाथ जोड़े हैं। ऐसी सम्पदा पाकर मुझे भूल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। देखो न, मुझे देखकर वह न सामने आया और न उठा ही !

भरत वास्तविक परिस्थिति से परिचित थे। वे अपनी भोली दादी को क्या उत्तर देते ? उनकी समझ में ही नहीं

आता था कि मैं इन्हें किस प्रकार समझाऊँ? समझा देने में माता के दिल को चोट लगने की आशंका भी थी। अतएव उन्होंने टालते हुए कहा—माताजी, आप उन्हीं से पूछना कि वे क्यों नहीं उठे?

माता कहने लगीं—ऋषभ! तू ऐश्वर्य पाकर मुझे भूल गया परन्तु मैं तुझे नहीं भूली हूँ। मैं क्षण-क्षण में तुझे याद किया करती हूँ। लेकिन तू मुझसे बोलता तक नहीं है! क्या मुझसे कोई बड़ा अपराध बन गया है? तू बोल या मत बोल, मेरी गति-मति तू ही है।

यद्यपि भगवान् सर्वज्ञ होने के कारण माता के इन भावों को भलीभाँति जानते थे; लेकिन वे यह भी जानते थे कि यह समय माता के मोक्ष जाने का है। अतएव माता से बोलकर विघ्न न करना चाहिए।

जब हाथी और भी सन्निकट आ गया, तब वह कहने लगीं—अरे ऋषभ तो अब भी नहीं उठा! वास्तव में इस पर मेरा राग है। मुझे इस राग के घेरे से बाहर निकलना चाहिए। यद्यपि अप्रशस्त राग से प्रशस्त राग अच्छा है, लेकिन उससे भी आत्मा को विलग होना चाहिए। जब ऋषभ ने मुझे और इस संसार को त्यागा है तभी उसे यह सम्पदा मिली है। इससे स्पष्ट है कि त्याग से ही सब कुछ मिलता है। ऋषभ का मौन मानो कानों से टकरा कर कहता है—

माता. जागो और मोह त्यागो। मोह त्यागने से ही इसे यह ऋद्धि मिली है। मैं मोह त्याग दूँगी तो क्या मुझे यह ऋद्धि नहीं मिलेगी?

इस प्रकार सोचकर माता ने भरत से कहा—हे भरत! जगत् जंजाल है।

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥

भरत! यह सारा संसार जंजाल है। केवल आत्मा ही शाश्वत है। संसार की किसी भी वस्तु के साथ आत्मा का लगाव नहीं है। यह सब कल्पना का ही खेल है। आत्मा सब से भिन्न है। जब मैं यह बात जान गई हूँ तो संसार के जंजाल में क्यों पड़ूँ?

इस प्रकार कहकर माता ने अपने आत्मा को राग से पृथक् किया। आत्मा के लिए अप्रशस्त राग को जीतना उतना कठिन नहीं, जितना प्रशस्त राग को जीतना कठिन होता है! मगर माता ने प्रशस्त राग को भी जीतकर दिखा दिया कि इस राग को भी जीतना चाहिए।

माता ने आत्मा को राग से खींचकर मोह नष्ट कर दिया। बारहवें गुणस्थान की अवस्था प्राप्त की। फिर तेरहवें गुणस्थान की स्थिति भोगकर सिद्धि प्राप्त की।

माता को देखकर भरत सोचने लगे—माता यह क्या कर रही हैं! उन्होंने प्रकट में कहा—माता, आप अपने पुत्र को देखिए न! लेकिन माता तो सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो चुकी थीं। माता का शरीर देखकर वे जान गये कि माता ने सिद्धि प्राप्त कर ली है। वह सोचने लगे—जिस प्रयोजन के लिए मानव-शरीर की प्राप्ति होती है, माता का वह प्रयोजन पूर्ण हो गया! माता का उद्देश्य सफल हो गया! जिस काम के लिए दीपक हाथ में लिया जाता है वह काम हो जाने के बाद दीपक त्याग दिया जाता है। इसी प्रकार महापुरुष काम होने तक ही व्यवहार रखते हैं और काम हो जाने पर व्यवहार त्याग देते है। माता ने भी शरीर का काम हो जाने पर शरीर त्याग दिया हैं।

मोह के कारण भरत और बाहुबली माता के लिए शोक करने लगे। उस समय इन्द्र ने आकर उनसे कहा—माता के लिए शोक मनाना वृथा है। वह प्रथम केवली हुई हैं। भगवान् ने इतने कष्ट सहकर जो दिव्य ज्ञान प्राप्त किया है, उसे माता ने सहज ही प्राप्त कर लिया है। उन्होंने मानव-जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त की है। उनके लिए दुःख न करो। शोक न मनाओ।

इस प्रकार सब को समझा कर इन्द्र ने माता के शरीर का अन्तिम संस्कार किया। माता के शरीर को देखकर भरत आदि सब के मन में यह भावना हुई कि माता के हृदय में

भगवान् के प्रति इतनी उत्कट तल्लीनता थी कि उन्होंने हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही मोक्ष प्राप्त कर लिया। यह क्या कुछ साधारण बात है! भगवान् के प्रति ऐसा प्रेम हमें कब प्राप्त होगा!

आत्मा का परम कल्याण एक ही जन्म में नहीं होता। उसके लिए अनेक जन्मों की साधना के संस्कारों की आवश्यकता रहती है।

माता के हृदय में भगवान् के प्रति जो प्रेम था, उसे आदर्श मानकर आप भी भगवान् के प्रति प्रेम करेंगे तो आपका भी कल्याण होगा।

